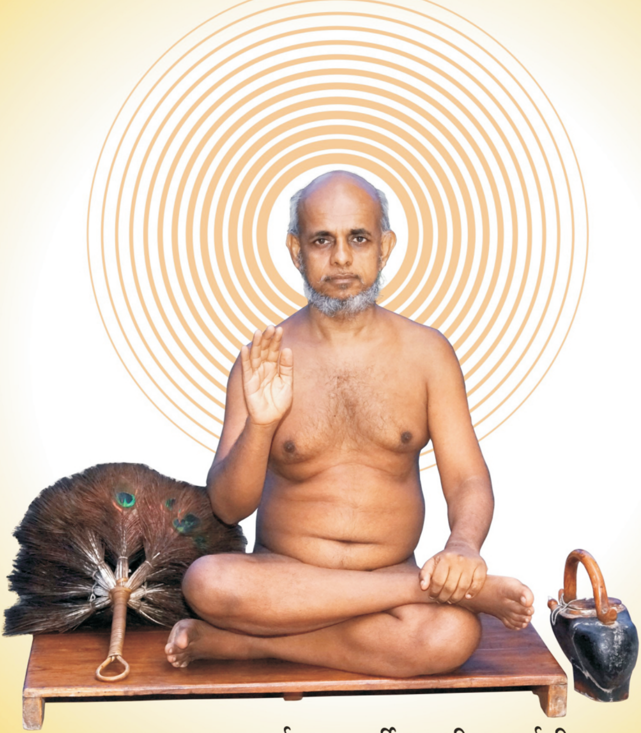

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

सिद्धान्तसमीक्षा

भाग 1

सम्पादक

नाथुराम जी प्रेमी

प्रकाशक

जैन ग्रन्थ कार्यालय

मुम्बई (महाराष्ट्र)

(परम्परानायक)

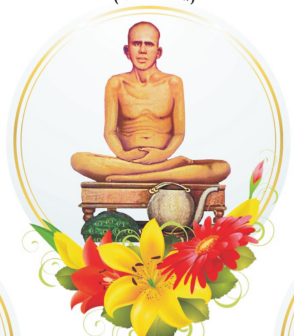

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

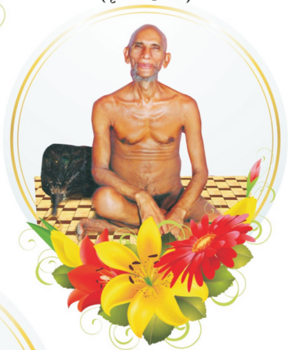

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

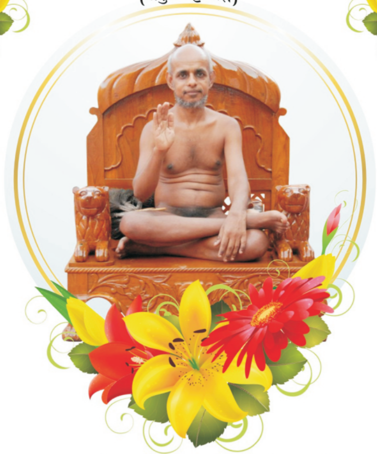

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

१

जीवकाण्ड के टीकाकारों की भूल

(लेखक—पं फूलचन्दजी सि. शा. बनारस)

गोमट्टसार जीवकाण्ड की गाथा १५६ की व्याख्या करते हुए दोनों संस्कृत टीकाओं में लिखा है कि छहसौ योजनो के वर्ग का जगप्रतर मे भाग देने पर जो प्रमाण आवे उतना तिर्यंचगति में योनिमती अर्थात् द्रव्यस्त्रियो का प्रमाण है। उसी प्रकार गाथा १५९ की दोनो संस्कृत टीकाओ में भी लिखा है कि पर्याप्त मनुष्य राशि के चार भाग करे, उनमे से तीन भाग प्रमाण मनुष्य द्रव्य-स्त्रियाँ होती है। पण्डितप्रवर टोडरमल जी की हिन्दी टीका इन्हीं दोनो संस्कृत टीकाओ के आधार से है, अत: उसमे भी दोनों स्थलों पर दोनों संस्कृत टीकाओं का अनुसरण किया गया है।

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि क्या सचमुच मे आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की इच्छा १५६ वीं गाथा मे तिर्यंच द्रव्य स्त्रियों के और १५९ वीं गाथा मे मनुष्य द्रव्यस्त्रियों के प्रमाण कहने की रही है, या टीकाकारो ने ही उक्त प्रमाण को भूल से द्रव्यस्त्रियों का समझ लिया है ? इस प्रश्न के निर्णय के लिये हमें आगमिक परम्परा को समझ लेना जरूरी है।

आगम में तिर्यंचों के सामान्य तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच, पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंचनी और पंचेन्द्रिय अपर्याप्त तिर्यंच, ये पाँच भेद किये हैं। तथा मनुष्यों के सामान्य,

पर्याप्त, योनिमत् और अपर्याप्त ये चार भेद किये है। यथा—

सामण्णा पंचिंदी पज्जत्ता जोणिणी अपज्जत्ता ।
तिरिया णरा तहा वि य पंचिंदियभंगदो हीणा ॥ १५०
॥ गो० क० ॥

अथ स्यात्तिर्यञ्चः पञ्चविधाः, तिर्यञ्चः पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चः पंचेन्द्रियपर्याप्ततिर्यञ्च- पंचेन्द्रियपर्याप्त-तिरश्चयः पंचेन्द्रियापर्याप्ततिर्यञ्च इति ॥ ॥ धवला० भा० ॥

सामान्य तिर्यञ्च और सामान्य मनुष्य पद से सभी प्रकार के तिर्यञ्च और मनुष्यों का ग्रहण किया है। पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च पद से सभी प्रकार के पचेन्द्रिय तिर्यञ्चों का ग्रहण किया है। यह भेद मनुष्यों में नहीं पाया जाता, क्योंकि सभी मनुष्य पचेन्द्रिय ही होते है। पचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च और पर्याप्त मनुष्य पद से सभी प्रकार के पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्चों का और पर्याप्त मनुष्यो का ग्रहण होता है। पर आगम में उक्त संज्ञा पुरुषवेदी और नपुसकवेदी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च और पुरुषवेदी तथा नपुसकवेदी पर्याप्त मनुष्यों के लिये भी आती है। यथा—

इत्थिअपज्जत्तूणा ते पुण्णे उदयपयडीओ ॥ २९५ ॥
॥ गो० क० ॥

अर्थात् पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के जो ९९ प्रकृतियाँ उदययोग्य बतलाई हैं उनमें से स्त्रीवेद और अपर्याप्त इन दो प्रकृतियों के घटा देने पर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च पर्याप्त के ९७ प्रकृतियो का उदय होता है। यहाँ पर पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च जीव ही पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च पर्याप्त पद से लिये गये है।

पज्जत्ते वि य इत्थीवेदापज्जत्तिपरिहीणो ॥ ३०० ॥
॥ गो० क० ॥

अर्थात् सामान्य मनुष्य के जो १०२ प्रकृतियाँ उदययोग्य बतलाई है उनमें से स्त्रीवेद और अपर्याप्त इन दो प्रकृतियों के घटा देने पर पर्याप्त मनुष्य के १०० प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। यहाँ पर पुरुषवेदी और नपुसकवेदी मनुष्य ही पर्याप्त मनुष्य पद से लिये गये है।

पचेन्द्रिय योनिमत्तिर्यञ्च और योनिमन्मनुष्य पद से स्त्रीवेदी तिर्यञ्च और मनुष्यों का ग्रहण होता है। यथा—

पुंसंढूणित्थिजुदा जोणिणिये ॥ २९६ ॥ ॥ गो० क० ॥

अर्थात् पचेन्द्रिय तिर्यञ्च पर्याप्त के जो ९७ प्रकृतियाँ उदययोग्य बतलाई है उनमे से पुरुषवेद और नपुंसकवेद को घटा कर स्त्रीवेद के जोड देने पर पंचेन्द्रिय योनिमत्तिर्यञ्च के ९६ प्रकृतियाँ उदय योग्य होती है।

मणुसिणिए त्थीसहिदा तित्थयराहारपुरिससंढूणा ॥ ३०१॥
॥ गो० क० ॥

अर्थात् पर्याप्त मनुष्य के जो १०० प्रकृतियाँ उदय योग्य बनाई हैं उनमे से तीर्थंकर, आहारकद्विक, पुरुपवेद और नपुंसकवेद इन पॉच प्रकृतियों को घटा कर स्त्रीवेद के जोड़ देने पर योनिमन्मनुष्य के ९६ प्रकृतियाँ उदययोग्य होती है।

इन दोनो उद्धरणों से स्पष्ट है कि पंचेन्द्रिय योनिमत्तिर्यञ्च पद से स्त्रीवेद तिर्यञ्चों का और योनिमन्मनुष्य पद से स्त्रीवेदी मनुष्यो का ग्रहण किया है। तथा पंचेद्रिय अपर्याप्त तिर्यञ्च और अपर्याप्त मनुष्य पद से लब्ध्यपर्याप्तक पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों का ग्रहण किया गया है।

तात्पर्य यह है कि आगम मे योनिमत् पद से द्रव्यस्त्रियो का कहीं पर भी ग्रहण नहीं किया है। इसका खुलासा निम्न हेतुओं से भी हो जाता है।

(१) वीरसेन स्वामी द्रव्यप्रमाणानुगम म 'पंचिंदिय-तिरिक्खजोणिणीसु मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया? असंखेज्जा ॥ ३३ ॥ इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते है—

जोणिणिणिद्देसो पुरिसणवुंसयलिंगवुदासट्ठो। (सूत्र ३३ की व्याख्या) अर्थात् सूत्र में जो 'योनिनी' पद का निर्देश किया है वह पुरुषलिंग और नपुसक लिंग के निराकरण करने के लिये किया है। यहाँ लिंग से वेद विवक्षित है।

(२) मनुष्यनियों की संख्या चौदहो गुणस्थानों मे बताई गई है। यथा—

मणुसिणीसु सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति दव्वपमाणेण केवडिया? संखेज्जा ॥४९॥ जीवट्ठाण-दव्वप०॥

अर्थात् मनुष्यनियो में सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में जीव द्रव्यप्रमाण की (संख्या की) अपेक्षा कितने हैं? सख्यात हैं ॥ ४९ ॥

इससे स्पष्ट है कि मनुष्यनियो से स्त्रीवेदवाले मनुष्यों का ग्रहण किया है, क्योंकि, द्रव्यलिंग की अपेक्षा से तो मनुष्यनियों के पाँच गुणस्थान ही होते हैं।

(३) जीवट्ठाण कालानुयोगद्वार में योनिमत्तिर्यञ्चो का काल बताते हुए वीरसेन स्वामी लिखते है कि—

' पंचिन्दियतिरिक्खजोणिणीसु पण्णारस पुव्वकोडीओ भमाविय पच्छा देवुत्तरकुरवेसु उप्पादेदव्वो। कुदो? वेदन्तरसंकंतीए अभावादो।

अर्थात् पचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिमतियो में तो जीव को पन्द्रह पूर्व कोटियों तक भ्रमण कराके पीछे देवकुरु या उत्तरकुरु में उत्पन्न कराना चाहिये, क्योंकि इस जीव के वेदपरिवर्तन इष्ट नहीं है।

तात्पर्य यह है कि पचेन्द्रिय तिर्यञ्च पर्याप्त जीवों के तीनों वेदो की अपेक्षा काल बताया है, अतः वहाँ सैंतालीस पूर्वकोटियाँ बन जाती है। पर पचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिमतियो के एक स्त्रीवेद की अपेक्षा ही काल बताना इष्ट है। यहाँ अन्य वेद का संक्रमण नहीं लिया गया है, अतः यहाँ पन्द्रह पूर्वकोटियाँ ही बनेंगी।

कालानुयोगद्वार धवला पृष्ठ३६९में ' वेदंतरसंकंतीए अभावादो ' पद का अर्थ ' क्योंकि भोगभूमि मे वेदपरिवर्तन का अभाव है ' किया है, पर वह अर्थ यहाँ ठीक नहीं। यहाँ तो यह प्रकरण है कि जिस प्रकार सामान्य तिर्यञ्चों के ९५ पूर्वकोटि और पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चो के ४७ पूर्वकोटि काल कहा है उस प्रकार योनिमत् तिर्यञ्चो के न कह कर १५ पूर्वकोटि ही क्यो कहा है। इस पर वीरसेन स्वामी का उत्तर है कि यहाँ वेदपरिवर्तन नहीं होता, क्योकि योनिमत्तिर्यञ्च के एक स्त्रीवेद की अपेक्षा से ही काल बताना है और एक वेद की अपेक्षा भोगभूमि के काल को छोड कर ५ पूर्वकोटि से अधिक काल हो नहीं सकता। अतः ऊपर जो हमने अर्थ किया है वही प्रकरण के अनुसार सगत प्रतीत होता है।

इसी प्रकार और भी बहुत से प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं, पर उनसे लेख का कलेवर बढ़ जायगा। तथा इतने प्रमाणों

से ही इस बात का ज्ञान हो जाता है कि आगम में सर्वत्र संख्या आदि बताते हुए तिर्यञ्चनी और मनुष्यनियो से जिनके स्त्रीवेद का उदय है वे तिर्यञ्च और मनुष्य जीव ही लिये गये हैं। अतः इस आगमिक परंपरा को देखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की इच्छा गाथा १५६ में तिर्यञ्च द्रव्यस्त्रियों की और गाथा १५९ में मनुष्य द्रव्यस्त्रियो की संख्या कहने की नहीं रही है। टीकाकार ही भूल से उक्त संख्या तिर्यंच और मनुष्य द्रव्यस्त्रियों की समझ बैठे है। उनसे ऐसी भूल क्यों हुई? उनके सामने उनके इस मत की पुष्टि के लिये क्या कोई आधार था? यह सब अभी अज्ञात है। सम्भव है विशेष छानबीन से इस पर कुछ असर पड़े। पर हमारा निजी विचार तो यह है उनके सामने उनके इस मत की पुष्टि में आगमपरम्परा का होना तो सम्भव नहीं प्रतीत होता और इसीलिये हम इसे टीकाकारो की भूल लिख रहे हैं। आशा है, विद्वान् इस पर विचार करेंगे।

२

जीवकाण्ड के टीकाकारोंने क्या सचमुच भूल की है?

(लेखक—प्रो० हीरालालजी, अमरावती)

गोम्मटसार जीवकाण्ड मे जीवों की भिन्न भिन्न अवस्थाओ में विचार की सुविधा के लिये समस्त जीवराशि का चार गतियों में विभाग करके उनमे पुनः तिर्यंचों के सामान्य, पंचेद्रिय, पर्याप्त, योनिमती और अपर्याप्त, ऐसे पाँच तथा मनुष्यो के सामान्य, पर्याप्त, योनिमती

और अपर्याप्त, ये चार भेद किये गये हैं। जीवकाण्ड के संस्कृत व हिन्दी टीकाकारों ने गाथा १५६ व १५९ में यह स्पष्टीकरण किया है कि यहाँ योनिमती तिर्यञ्चों तथा मनुष्यनियो से द्रव्यस्त्री का अभिप्राय है।

किन्तु जैन सन्देश, भाग ७, संख्या २५, अक्टूबर१४ सन् १९४३ के अङ्क में पृष्ठ ६ पर पं० फूलचन्द जी शास्त्री का एक लेख 'जीवकाण्ड के टीकाकारो की भूल' शीर्षक छपा है, जिसमें कहा गया है कि उक्त स्पष्टीकरण में टीकाकारों ने भूल की है; यथार्थतः वहाँ द्रव्यस्त्री नहीं, किन्तु भावस्त्री का ही अभिप्राय है। यहाँ हमारे सन्मुख यही विचार प्रस्तुत है कि उक्त प्रकरण में क्या सचमुच द्रव्य स्त्री से तात्पर्य नहीं है, और क्या उन विद्वान् टीकाकारों ने सचमुच कोई भूल की है?

सर्व प्रथम विचार यह उत्पन्न होता है कि उक्त पाँच व चार वर्गों का विभाग हुआ किन आधारों पर है? तिर्यञ्चों के विभाग में तीन आधार स्पष्ट दिखाई देते हैं—पहले पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा, और दूसरे पंचेन्द्रियत्व की अपेक्षा और तीसरे पुरुष व स्त्रीलिंग की अपेक्षा। इन्हीं भेदों को सक्षेप में कथन के सुविधानुसार क्रम से ग्रन्थकार ने उक्त पाँच वर्गों मे प्रकट किया है। उसी प्रकार मनुष्यों के विभाग मे दो अपेक्षाएँ ग्रहण की गई है। पहले पर्याप्त अपर्याप्त की अपेक्षा से दो विभाग हुए, और फिर पर्याप्त के पुरुष और स्त्री भेद से दो वर्ग हुए। इन्हे ही चार विभागो में उपयुक्त क्रम से रखा गया है। चूँकि मनुष्यमात्र पंचेन्द्रिय ही होते है, अत: उनमे इन्द्रिय की अपेक्षा विभाग का प्रश्न ही खड़ा नहीं हुआ।

यहाँ स्पष्टतः विभाग के लिये ऐसे आधार ग्रहण किये गये है जिनसे जीव जगत् के नियमित शरीर भेद उत्पन्न होते है। यही बात सैद्धान्तिक भाषा में इस प्रकार कही जा सकती है कि यहाँ जीवों की नामकर्मोदय जनित ऐसी प्रकृतियों के उदयानुसार विभाग किये गये है, जिनसे उनकी शरीर-निष्पत्ति में नियमित भेद उत्पन्न होते हैं, अतः टीकाकारो ने जो यहाँ द्रव्यस्त्री की सूचना की है वह अयुक्त सिद्ध नहीं होती। इसके विपरीत यदि हम यहाँ द्रव्यलिंग को छोड कर केवल भाववेद की ही विवक्षा स्वीकार करते है, तो निम्नलिखित शकायें उठ खडी होती है--

(१) यदि यहाँ भाववेदमात्र से तात्पर्य था तो उसके स्पष्ट सूचक स्त्रीवेदी शब्द का प्रयोग न करके 'योनिनी' शब्द का उपयोग क्यो किया गया ? जीवकाण्डकार ने विना विवेक के उस शब्द का प्रयोग किया हो, सो बात नहीं है। वे ऊपर गाथा ८१ से ८९ तक योनि का गर्भाशय अर्थ समझा आये है और उसके भेदो का भी विस्तार से विवेचन कर चुके है। आगे चल कर उन्होंने वेद का अलग विवेक किया है। तब फिर विना किसी सूचना के उसी शब्द का अपने समझाये हुए अर्थ से विपरीत अर्थ मे उपयोग करने की क्या आवश्यकता पडी ? योनि शब्द का भाव-मात्र स्त्रीवेद अर्थ करने के लिये क्या कोई व्याकरण, निरुक्त आदि भाषा शास्त्र का आधार है ?

(२) भाववेद नामकर्मोदय जनित नहीं है, किन्तु वह मोहनीय कर्म की विशेष प्रकृतियो के उदय से उत्पन्न होता है। यदि उसी की अपेक्षा यहाँ विभाग माना जाय तो कहना पड़ेगा कि

एक ही श्रेणी-विभाग में एक नहीं, किन्तु दो भिन्न भिन्न आधार ग्रहण किये गये है—एक नामकर्मोदय का और दूसरा मोहनीय कर्म के उदय का। तब फिर अन्य ज्ञानावरणादि कर्मों के उदयानुसार भी यही क्यों नहीं भेद कर डाले ?

(३) यदि मोहनीय कर्मोदयजनित प्रकृतियों के आधार पर भी यहाँ विभाग करना ही था तो फिर उसी कर्म की अन्य प्रकृतियों जैसे कषायादि के आधार पर भी यहाँ क्यों नहीं विभाग किये गये ? केवल वेद की ही यहाँ क्यो विवक्षा उत्पन्न हुई, और कषायादि की क्यो नही हुई ?

(४) वेद की अपेक्षा विभाग और विचार के लिये ही तो वेद मार्गणा खड़ी की गई है, जिसके अनुसार उचित विचार आगे यथास्थान किया गया है। उसी विवक्षा को यहाँ गति मार्गणा मे क्यो ले बैठे है ?

(५) जब गति मार्गणा के भीतर भी भाववेद की ही विवक्षा रही और वेद मार्गणा में भी वही रही तब फिर द्रव्यवेद का विचार कहाँ किया गया ? यदि किया ही नहीं गया, तो क्यों नहीं ? उसके विना द्रव्यवेद की शास्त्रीय व्यवस्था कहाँ से समझी जाय ?

(६) यदि वेद की ही यहाँ विवक्षा है तो वेद तो तीन प्रकार का होता है, इसलिये तिर्यँच व मनुष्य जाति के उसकी अपेक्षा तीन विभाग करना चाहिये थे, सो क्यो नहीं किये ? तीनों वेदों की अपेक्षा रख कर भी जो उन्हें केवल दो विभागों मे प्रकट किया सो किस अपेक्षा से ?

(७) इतने पर भी यदि यहाँ भाववेद की ही विवक्षामात्र ली जाय, तो भी योनिमती कहने से भाव सहित द्रव्यस्त्री की ही सिद्धि होगी, क्योंकि स्त्री और पुरुष वेदों के भाव और द्रव्य में वैषम्य या विपरीतत्व नहीं होता। यदि कहा जाय कि स्त्रीवेदी जीव के पुरुषलिंग की व पुरुषवेदी जीव के स्त्रीलिंग की उत्पत्ति हो सकती है, तो प्रश्न उपस्थित होता है कि यह वैषम्य कब और कैसे उत्पन्न हो सकेगा। एक जीवनकाल के भीतर तो वेद-परिवर्तन होता नहीं है। यदि उदय प्राप्त वेद से भिन्न वेद का कर्मबन्ध भी किया गया तो भी वह उदय में तभी आ सकेगा, जब जीव मर कर अन्य पर्याय ग्रहण करे, क्योंकि जन्म से लेकर मरण पर्यंत तो एक ही वेद निश्चित रहने का नियम है। इसी से जीव जिस प्रकार अन्तर्मुहूर्त मे कषाय संक्रमण कर सकता है, उस प्रकार वेद संक्रमण नहीं कर सकता। तब फिर केवल मरण के पश्चात् और जन्म से पूर्व का ही अपर्याप्त काल ऐसा है जिसमें वेद बदल सकता है। पर यहाँ भी विपरीत द्रव्य और भाव वेद उत्पन्न नहीं हो सकते। यह बात भाव और द्रव्य की आनुषगिक व्यवस्था पर दृष्टि डालने मात्र से सुस्पष्ट हो जाती है। जीव के जो भावबन्ध हुआ होगा उसी के अनुकूल वह पुद्गलस्कंध संचित करके अपनी शरीर-रचना करेगा। यह नहीं हो सकता कि भावबन्ध एक हो और शरीर-निष्पत्ति उसके विपरीत हो, एवं उसी विपरीत अङ्गोपाग के द्वारा वह भाव अपना विपाक भी दिखा सके। चक्षुर्ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम भाव से कान की निष्पत्ति हो और उसी के द्वारा रूप का ज्ञान भी हो जाय, यह नहीं बन सकता। इस प्रकार न तो जन्म से पूर्व

और न जन्म के पश्चात् वेदवैषम्य की उत्पत्ति सिद्ध होती। तब फिर भाव और द्रव्य का वैषम्य सिद्ध कैसे होगा?

(८) यदि वैषम्य स्वीकार ही कर लिया जाय तो उस पर से यह व्यवस्था निकलेगी कि पुरुषलिंगी स्त्रीवेदी जीवो का अन्तर्भाव योनिमतियों में और स्त्रीलिंगी पुरुषवेदी जीवों का अन्तर्भाव तिर्यंच या मनुष्यों मे किया गया है। क्या यही व्यवस्था इष्ट है या अन्य प्रकार से?

इन शंकाओं का उचित समाधान किये जाने पर ही यह निर्णय किया जा सकेगा कि गोम्मटसार के विद्वान् टीकाकारों ने क्या कोई भूल की है? पं० फूलचन्द जी शास्त्री ने जीवकाण्ड के उक्त प्रकरण में भाववेद की विवक्षा सिद्ध करने के लिये जो शास्त्रोल्लेख प्रस्तुत किये है वे उपर्युक्त विवेचन के अनुगामी है और इसलिये उनकी चर्चा इस विवेचन के पश्चात् ही की जाना चाहिये, उससे पूर्व नहीं। प्रस्तुत चर्चा में उनको प्रधानता देने से दृष्टिकोण निर्मल न रह कर पक्षपातदूषित होने लगता है। इसीलिये उनकी चर्चा यहाँ मै जानबूझ कर छोड देता हूँ। उपर्युक्त मौलिक मुद्दों पर पहले अमिश्रित दृष्टि से विचार हो जाने के पश्चात् ही उन पर अवलम्बित अन्य व्यवस्थाओ पर विचार किया जा सकता है। अतएव उक्त लेखक तथा अन्य मर्मज्ञ विद्वानो से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वे जीवकाण्ड के प्रस्तुत प्रकरण और तत्सम्बन्धी उपर्युक्त शंकाओं द्वारा निर्दिष्ट क्षेत्र के भीतर ही विचार व विवेचन करें और उन्ही सीमाओं के भीतर इस चर्चा को ठीक निर्णय की ओर बढावें। किन्तु जब तक निर्णय न हो जाय तब तक उस पर से फलित होने वाली व्यवस्थाओ को कृपा कर न छेड़े। (जैन सदेश, भा. ७, सं. २९)

३

प्रोफेसर साहब के लेखका उत्तर

(लेखक—पं. फूलचन्द्रजी शास्त्री, बनारस.)

जैन सन्देश भाग ७ संख्या २५ अङ्क में मेरा 'जीवकाण्ड के टीकाकारों की भूल' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमे मैने यह बतलाया था कि जब जैन परम्परा मे वेदवैषम्य स्वीकार किया है अर्थात् एक द्रव्य पुरुष, द्रव्य स्त्री या द्रव्य नपुंसक भाव से स्त्री, नपुंसक और पुरुष इनमें से कोई हो सकता है, और चूंकि जहाँ भी योनिमती तिर्यंच और योनिमती मनुष्यका कथन किया है वहाँ चारित्रमोहनीय के अवान्तर भेद वेद नोकषाय का उदय अवश्य ग्रहण किया है, इससे निश्चित होता है कि जीवकाण्ड में गाथा १५६ और १५९ मे क्रमशः इन दोनों की संख्या बताते समय भाव स्त्री वेद वाले उक्त दोनों की संख्या बतलाई है, परन्तु टीकाकारोंने वहाँ द्रव्य स्त्री लिख दिया है। यह उनका कथन चूंकि उक्त परम्परा के विरुद्ध है अतः यह उनकी भूल समझना चाहिये।

किन्तु जैन सन्देश भाग ७, संख्या २९ मे श्रीमान् प्रो० हीरालालजी ने 'जीवकाण्ड के टीकाकारोंने क्या सचमुच भूल की है' शीर्षक एक लेख लिख कर मेरे उक्त लेख पर आपत्ति प्रकट की है। उन्होने आठ शङ्काएँ उपस्थित की है और कुछ अन्य सूचनाओं की मर्यादा के भीतर उन पर विचार करने की विद्वानों से प्रेरणा की है। मैं उनकी इच्छा से अच्छी तरह परिचित हूँ। अतः मैने उन्हीं की सूचनाओं की रेखा के भीतर उनके उक्त लेख पर

विचार किया है। मै पहले उनकी शङ्काओंका उत्तर न देकर प्रारम्भिक स्पष्टीकरण कर देना चाहता हूँ। मालूम यह होता है कि वर्तमान समय के विद्वानों में द्रव्य वेद और भाव वेद के वैषम्य में ही विवाद है। आगमिक उभय सम्प्रदाय सम्मत प्रमाणों से और युक्ति से यदि यह सिद्ध किया जा सके कि द्रव्यवेद अन्य के रहते हुए भाव वेद अन्य हो सकता है तो सारी समस्या अपने आप सुलझ जाय। अतः हम पहले दोनो सम्प्रदायो के ग्रन्थो से वेद-वैषम्य की सिद्धि करते है।

जीवकाण्ड वेदमार्गणा में लिखा है:--

पुरिसित्थिसंढवेदोदयेण पुरिसित्थिसंढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा ॥ २७१ ॥

अर्थ—पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुसक वेद के उदय से जीव भावपुरुष, भावस्त्री और भावनपुंसक होता है। तथा निर्माण नाम कर्म से युक्त आगोपाग नामकर्म के उदय से जीव द्रव्यपुरुष द्रव्यस्त्री और द्रव्यनपुंसक होता है। ये दोनों द्रव्य और भाववेद प्रायः समान होते है पर कही इनकी विषमता भी देखी जाती है।

उक्त गाथा की टीकामे लिखा है—

'एते द्रव्यभाववेदाः प्रायेण प्रचुरवृत्त्या देवनारकेषु भोगभूमिसर्वतिर्यङ्मनुष्येषु च समाः द्रव्यभावाभ्यां समवेदोदयांकिता भवन्ति। क्वचित् कर्मभूमिमनुष्यतिर्यग्गतिद्वये विषमा विसदृशा अपि भवन्ति। तद्यथा- द्रव्यतः पुरुषे भावपुरुष भावस्त्री भावनपुंसकं। द्रव्यस्त्रियां भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसकं। द्रव्यनपुंसके भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसकं इति।'

अर्थ—ये द्रव्य और भाववेद देव, नारकी तथा भोगभूमि के सब तिर्यंच और मनुष्यों में समान होते है पर कर्मभूमि के मनुष्य और तिर्यंच जीवों में विषम भी होते है और सम भी। तात्पर्य यह है कि कर्मभूमि की मनुष्यगति और तिर्यंचगति में जो द्रव्य से पुरुष है वह भाव से पुरुष, स्त्री और नपुंसक में से कोई हो सकता है। जो द्रव्य से स्त्री है वह भावसे पुरुष, स्त्री और नपुंसक हो सकता है। इसी प्रकार द्रव्य नपुंसक भी भाव से पुरुष, स्त्री या नपुंसक में से कोई भी हो सकता है। यही बात आचार्य अमितगति के पञ्चसंग्रह मे कही है। यथा—

'स्त्रीपुंनपुंसका जीवा सदृशा द्रव्यभावतः।
जायन्ते विसदृक्षाश्च कर्मपाकनियन्त्रिताः ॥ १९२ ॥
या स्त्री द्रव्येण भावेन सास्ति स्त्री ना नपुंसकः।
पुमान् द्रव्येण भावेन पुमान्नारी नपुंसकः ॥ १९३ ॥
संढो द्रव्येण भावेन संढो नारी नरो मतः।
इत्येवं नवधा वेदो द्रव्यभावविभेदतः ॥ १९४ ॥

अर्थ वही है जो ऊपर दे आये है।

यह तो दिगम्बरो के ग्रन्थों के प्रमाण हुए। अब हम श्वेताम्बर ग्रन्थो के प्रमाण भी दिये देते है ताकि पाठक यह न समझें कि दिगम्बरों ने स्त्रीमुक्ति का खण्डन करने के लिये यह प्रपञ्च रचा है। क्योंकि बहुत पहले सत्यवादी पत्र मे हमारे विद्वान् ऐसा आक्षेप कर चुके हैं, इसी लिये मैंने ऐसा उल्लेख किया है।

बृहत्कल्पसूत्र उद्देश चार में लिखा है। यथा—

तिविहम्मि वि वेदम्मि तियभंगो होइ कायव्वो ॥ ५१४७ ॥

अर्थ—तीनों प्रकार के वेदों में तीन तीन भग करना चाहिये।

इसकी टीका में लिखा है । यथा—

'स च नपुंसकवेदः त्रिविधेऽपि वेदे भवति। यत आह-त्रिविधेऽपि वेदे प्रत्येकं त्रिकभंगः कर्तव्यो भवति। कथम् इति चेदुच्यते—पुरुषवेदः पुरुषवेदं वेदयति पुरुषवेदः स्त्रीवेदं वेदयति, पुरुषो नपुंसकवेदं वेदयति। एवं स्त्रीनपुंसकयोरपि वेदत्रयोदयो मन्तव्य ।

अर्थ—वह नपुंसक वेद तीनो प्रकार के वेदो में होता है। इसलिये भाष्य मे कहा है कि 'तीनों प्रकार के वेदो में प्रत्येक के तीन तीन भग करना चाहिये।' वे भंग कैसे होते है आगे इसी का खुलासा करते है—पुरुष पुरुषवेद का वेदन करता है, पुरुष स्त्रीवेद का वेदन करता है, और पुरुष नपुसक वेद का वेदन करता है। इसी प्रकार स्त्री और नपुंसक के भी तीन वेदों का उदय मानना चाहिये।

पाठक इतने से ही समझ जॉयगे कि द्रव्य और भाववेद के वैषम्य के विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायो के ग्रन्थ एक मत है।

अब हम द्रव्य और भाववेद के वैषम्य के विषय मे युक्ति दे देना चाहते है।

आगोपांग का विपाक शरीर में होता है और वेद नोकषाय का विपाक जीव मे। आगोपाग का उदय नवीन शरीर ग्रहण के पहले समय से होता है, और वेदनोकषाय का उदय नवीन भव ग्रहण के पहले समय से। आंगोपाग का उदय जैसे शरीर के उपादान मिलते हैं उनके अनुसार काम करता है, पर वेद नोकषाय भव की प्रथम समय की परिस्थिति के अनुसार उदय में आता है। इस

प्रकार द्रव्यवेद और भाववेद के कारण भिन्न है, दोनों भिन्न भिन्न काल मे उत्पन्न होते है, दोनों मे परस्पर कार्यकारण भाव भी नहीं है, अतः ये दोनों एक होने ही चाहिये यह नियम नहीं किया जा सकता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि ऐसा है तो देव, नारकी, भोगभूमि या और समूर्च्छनो में भी द्रव्यवेद और भाव वेद का वैषम्य क्यो नहीं देखा जाता। तो इसका समाधान यह है कि नारकियो के उपपाद स्थान सुनिश्चित है; वहाँ की वर्गणाओ मे नपुंसक शरीर के बनाने की ही योग्यता है। देवों में स्त्रियों के और पुरुषों के उपपाद स्थान अलग अलग है। स्त्रियों के उपपाद स्थान में विद्यमान वर्गणाएँ स्त्री शरीर और पुरुषों के उपपाद स्थान *में विद्यमान वर्गणाएँ पुरुषों का ही शरीर बनाती है। भोगभूमि में* एक योनि स्थान मे एक साथ स्त्री और पुरुष के योग्य उपादान संचित रहते है, क्योंकि वहाँ युगल और उसमे भी एक स्त्री और एक पुरुष के उत्पन्न होने का नियम है। तथा समूर्च्छनो के उपपाद स्थानो में नपुसकों के शरीर के योग्य ही उपादान सचित रहते हैं, अतः द्रव्यवेद और भाववेद मे कारण–कार्य भाव के न रहते हुए भी वहाँ उनमें समानता बन जाती है। पर कर्मभूमि के मनुष्य और तिर्यंचो के विषय में ऐसा नियम नही किया जा सकता है क्योकि यहाँ एक ही योनिस्थान में पुरुष, स्त्री या नपुंसक शरीर के योग्य उपादान प्राप्त होने की क्षमता है और होते भी हैं। जो स्त्री पहले पुत्री को उत्पन्न करती है वही दूसरी बार मे पुत्रों को और तीसरी बार में नपुसक को भी पैदा कर सकती है। इस प्रकार यहाँ योनिस्थान मे पुरुष, स्त्री और नपुंसक शरीर के योग्य प्राप्त होने

वाली सामग्री निमित्तानुसार बदलती रहती है, इसलिये उसमें उत्पन्न होने वाले जीव के दोनों वेदों में वैषम्य भी हो जाता है। यह कभी सम्भव नहीं कि पैदा होने वाला जीव अपने वेदनोकषाय के उदयानुसार वहाँ की सामग्री को बदल ले। अतः कर्मभूमि में वेदवैषम्य में आश्चर्य नहीं होना चाहिये। इस प्रकार युक्ति से भी वेद की विषमता ही सिद्ध होती है। (जैन सदेश, भा. ७, सं. ३१)

चूंकि जब इस प्रकार आगम प्रमाण तथा युक्ति से वेद की विषमता सिद्ध हो गई तथा जहाँ भी योनिमती तिर्यंच या मनुष्य का उल्लेख आता है वहां स्त्रीवेद नोकषाय का उदय वाला ही जीव ग्रहण किया जाता है, जिसके प्रमाण हम पिछले लेख में दे आये हैं तब यह कैसे माना जा सकता है कि जीवकाण्ड में तिर्यंच स्त्रियों और मनुष्य स्त्रियों की सख्या भाववेद की अपेक्षा न होकर द्रव्यवेद की अपेक्षा से ही की गई है? यदि यहाँ भाववेद की विवक्षा न होकर द्रव्यवेद की ही विवक्षा है या जहॉ जो द्रव्यवेद होता है वहाँ वही भाववेद होता है ऐसा नियम है तो इस नियम के ज्ञापक आगम प्रमाण उपस्थित करना चाहिये और जो प्रमाण पिछले लेख मे हमने उपस्थित किये हैं वे किस प्रकार अग्रगामी न होकर केवल अनुगामी हैं यह भी सप्रमाण दिखाना चाहिये; तभी विश्वासपूर्वक यह कहा जा सकेगा कि जीवकाण्ड के विद्वान् टीकाकारों ने सचमुच भूल नहीं की। इस प्रकार मुझे प्रारम्भ मे जो कुछ प्रमाण और युक्ति के आधार से लिखना था वह लिख चुका। अब प्रो० सा० की प्रत्येक शंका का विचार किया जाता है। यहाँ इतना संकेत कर देना आवश्यक है कि मै पूरी शंका को उद्धृत नहीं करूंगा, क्योंकि उससे

लेखका कलेवर व्यर्थ ही बढ़ जाता है। हां जहाँ जो मुद्दे का प्रश्न होगा उसका उल्लेख करके उत्तर दूगा।

प्राक्कथन में प्रो० सा० लिखते है कि यहाँ स्पष्टतः विभाग के लिये ऐसे आधार ग्रहण किये गये है जिनसे जीव जगत् के नियमित शरीर भेद उत्पन्न होते हैं। + + + अतः टीकाकारों ने जो यहाँ द्रव्य स्त्री की सूचना की है वह अयुक्त सिद्ध नहीं होती।'

इस पर मेरा यह कहना है कि इस बात को तो प्रो० सा० ने ही मान लिया है कि आंगोपांग के उदय से शरीर भेद उत्पन्न होते हैं। पर जीवकाण्ड में गति के आश्रय से जीव के भेद गिनाये हैं। यह हम पहले लिख आये हैं कि आंगोपाग पुद्गलविपाकी है और वेद जीवविपाकी। आगोपाग के उदय से जो चिन्ह प्रकट होते हैं वे शरीर के ही होते है। उन चिन्हों से शरीर स्त्री, पुरुष और नपुंसक कहलायगा। इस अपेक्षा से यदि हम जीव का विचार करें तो वह स्त्री शरीर वाला, पुरुष शरीर वाला, और नपुंसक शरीर वाला इस प्रकार कहा जायगा। आगम में या लोक में जो शरीरभेद देख कर स्त्री आदिका व्यवहार होता है, वह उपचार है। पर जीव की संख्या आदि मे उपचार गृहीत नहीं, मुख्यार्थ ही लिया गया है। अतः वेद नोकषाय के उदय से होने वाले भाव वेद की ही वहाँ विवक्षा है, ऐसा मानना चाहिये। और इसी से यहाँ यह निष्कर्ष निकल आता है कि टीकाकारोंने जो द्रव्य स्त्री की सूचना की है वह अयुक्त है।

पहली शंका में प्रो. सा. जानना चाहते हैं कि यदि यहाँ भाववेद का तात्पर्य है तो योनिनी शब्द का ग्रहण क्यों किया। क्या इसे भाषा शास्त्र का आधार है?

इस पर मेरा यह कहना है कि जैन परम्परा में निक्षेप विधिसे शब्द के अर्थ का विचार करके जहां जो इष्ट होता है उसका ग्रहण किया जाता है। यही बात यहाँ समझना चाहिये। नाम योनिनी, स्थापना योनिनी, द्रव्य योनिनी और भाव योनिनी आदि अनेक भेद किये जा सकते हैं, उनमे से प्रकृत में भाव योनिनी लिया है, क्योंकि यहां वेदनोकषाय के उदय की प्रधानता है। रही भाषा शास्त्र की बात सो भाषा शास्त्र तो शब्द की निरुक्ति मात्र में चारितार्थ है, फिर चाहे आप उस शब्द को निरुक्ति से भिन्न अर्थ में ही क्यों न प्रयोग करे। ऐसे व्यत्यय हजारों मिलेंगे। तिस पर यहाँ योनि शब्द के अर्थ मे ही उसका प्रयोग है। वहाँ यह कहा जा सकता है कि लौकिक जन योनि से द्रव्ययोनिका ही ग्रहण करते हैं, अतः यहाँ प्रसिद्धार्थ का त्याग क्यो किया गया? सो इस पर मेरा यह कहना है कि यहाँ जीव के भेद गिनाये गये है, अतः जीवके भेदों में सम्भव योनिका ग्रहण किया है। अतः कोई दोष नहीं।

एक प्रश्न यह उठाया गया है कि गाथा ८१ से ८९ तक योनिका अर्थ गर्भाशय समझा आये है, तथा आगे वेद का अलग विवेक किया है; अतः बिना किसी सूचना के उसी शब्द का उपयोग अपने समझाए हुए अर्थ के विपरीत करने की क्यो आवश्यकता हुई?

इसका उत्तर यह है कि चौदह मार्गणाओं का स्वतन्त्र महाधिकार है। इसमे जीवकी विविध दशाओ का वर्णन किया गया है। गति भी जीव की विविध दशाओ मे सम्मिलित है, अतः योनिका ऊपर का अर्थ यहाँ न लेकर वह अर्थ लिया है जो जीव की दशा

से सम्बन्ध रखता है। ऐसा करने से असंगति भी पैदा नहीं होती। एक ही शब्द का विवक्षा भेद से जहाँ जो अर्थ संगत होता है वह लिया जाता है।

एक प्रश्न यह उठाया गया है कि भाव वेद नामकर्म जनित न होकर मोहकर्म जनित है। यदि उसकी अपेक्षा यहाँ विभाग माना जाय तो कहना होगा कि एक ही श्रेणी-विभाग में एक नहीं किन्तु दो भिन्न भिन्न आधार ग्रहण किये गये है। तब फिर अन्य ज्ञानावरणादि कर्मों के अनुसार भी यहाँ भेद क्यो न कर डाले?

इसका यह उत्तर है कि नामकर्म दो प्रकार का है, पुद्गलविपाकी और जीवविपाकी। पुद्गलविपाकी नामकर्म से शरीर भेद उत्पन्न होते हैं और जीवविपाकी नामकर्म से जीव भेद। स्वयं कर्मकाण्डकारने नामकर्म के कार्य बतलाते हुए लिखा है कि नामकर्म देहादि शरीर भेद और गत्यादि जीवभेदो को उत्पन्न करता है। इससे यही मालूम होता है कि गति जीव का भेद है, अतः गतियों के अवान्तर भेद जीवकी अवान्तर अवस्थाओ के आधार से ही होने चाहिये। अब यदि यहाँ आंगोपांग के उदय से होने वाले द्रव्य वेद की अपेक्षा भेद किये जाँय तो सचमुच ही एक ही श्रेणी–विभाग मे एक नहीं किन्तु भिन्न दो आधार ग्रहण करने का प्रसंग उत्पन्न हो जायगा, जिसे टालना आवश्यक है। अतः गतिमार्गणा में स्त्री आदि भेद भाववेद की अपेक्षा से ही जानना चाहिये। अब रही ज्ञानावरणादि कर्मों के अनुसार भेद करने की बात सो कुछ मार्गणा व्यवस्था का आधार आठ कर्म तो माने नहीं

गये हैं। अतः आवश्यकतानुसार जहाँ जो उचित समझा गया वहाँ उसका विधान किया है।

एक बात यह पूछी गई है कि जब मोहनीय के एक भेद वेद की अपेक्षा यहाँ भेद किये, तब कषाय आदि की अपेक्षा क्यों नहीं किये?

इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार एक पर्याय में एक ही वेद का उदय रहता है, वैसी कषायादि की बात नहीं है। अतः वेद का गति के साथ सामंजस्य बैठ जाता है, अन्य का नहीं। अतः उनकी अपेक्षा इस प्रकार भेद करना संभव नहीं।

एक प्रश्न यह है कि वेद की अपेक्षा विभाग विचार के लिये तो वेदमार्गणा है, अतः यहाँ गतिमार्गणा मे उसे क्यों ले बैठे?

उत्तर यह है कि मार्गणा में केवल स्त्री, पुरुष और नपुंसक ये तीन भेद ही बतलाये है। यदि वहाँ और अवान्तर भेद करते तो वहाँ भी सामान्य आधारभूत गतियों का उल्लेख करना पड़ता। बात एक ही होती। यही कारण है कि यहाँ गतियों का कथन करते समय वेद की अपेक्षा से भी भेद कर दिये।

एक प्रश्न यह है कि जब गति और वेद मार्गणा में भाव वेद की ही विवक्षा है, तब फिर द्रव्यवेद का विचार कहाँ किया है? यदि नहीं किया तो क्यों नहीं किया, उसके विना द्रव्यवेद का शास्त्रीय व्यवस्था कहाँ से समझी जाय?

इसका यह समाधान है कि गतिमार्गणा का कथन गति नामकर्म के उदय की प्रधानता से किया है। हाँ, उसमें स्त्री आदि भेदों में भाववेद विवक्षित कर लिया है। और वेद मार्गणा में वह

भावेद क्या वस्तु है इसका विचार किया गया है। रही द्रव्यवेद की बात, सो मार्गणाओं की कथनी में वह मुख्य नहीं। यही कारण है कि उसकी स्वतन्त्र व्यवस्था नहीं सङ्कलित की गई। स्थान—स्थान पर जो फुटकर सूचनाएँ मिलती है, उन्हीं के आधार से द्रव्यवेद का निश्चय करना पड़ता है।

एक प्रश्न यह है कि जब भाववेद तीन प्रकार का है, तो तिर्यंच और मनुष्यों के वेद की अपेक्षा भेद करते समय तीन भेद क्यों नहीं किये; उन्हें दो ही विभागों में क्यों बांटा?

यही एक प्रश्न ऐसा है जो जी को लगता है और उल्लिखित समस्त प्रमाणों के रहते हुए भी मनुष्य को चक्कर में डाल देता है। अभी तक के अनुसन्धान से मैं तो इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि जिस प्रकार मनुष्य और तिर्यंचों में स्त्रीवेदियों की स्वतन्त्र संख्या परम्परया प्राप्त हुई, उस प्रकार पुरुषवेदी और नपुसकवेदी जीवों की अलग-अलग संख्या परम्परा से नहीं प्राप्त हुई। यही सबब है कि तीन वेदों के आधार से तीन भेद नहीं किये गये।

सातवें और आठवें प्रश्नों का उत्तर हमारे प्रारम्भिक कथन से ही हो जाता है, अतः उनका अलग से विचार नहीं करते। हाँ, सातवें प्रश्न में जो एक महत्त्व का यह उल्लेख किया है कि वेद की विषमता के रहने पर भाववेद का विपाक कैसे होगा, सो इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि बाह्य क्रिया पर जिस प्रकार हिंसा और अहिंसा या मिथ्यात्व और सम्यक्त्व या सच्चरित्र और असच्चारित्र सर्वथा निर्भर नहीं है, उसी प्रकार वेद के विषय में भी जानना चाहिये। बाह्य क्रिया शरीर के अवयव और शरीरगत वीर्यादि विशेष शक्ति पर

अवलम्बित है, जब कि भाववेद परिणामों पर। एक पुरुष स्त्री से भोग करता हुआ भी यह सोच सकता है कि यदि मैं स्त्री होता तो इसी प्रकार मै भी किसी युवा पुरुष के साथ मौज करता। स्त्री के भी ऐसे परिणाम हो सकते हैं कि यदि मैं पुरुष होती तो नहीं मालूम मेरे पीछे कितनी सुन्दरियाँ लगी फिरतीं। यही तो भाववेद है, अतः इनकी विषमता मे सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। मोहनीय कर्म के कार्य का अन्तर्बाह्य मेल नहीं, इस बात को जानते हुए भी हम लोग वेद के वैषम्य के विषय में क्यों सन्देह करते हैं, यही आश्चर्य की बात है। अस्तु—

इस प्रकार प्रो० सा० ने जो सीमा खींच दी थी उसी के अन्दर रहकर ही हमने उक्त लेख का विचार किया है। यदि इसमें कोई दोष रहे हों या और कोई नये प्रश्न खड़े होते हों तो हमारी प्रो० सा० से व अन्य पाठकों से प्रार्थना है कि वे सूचित करने की कृपा करेंगे। हम स्वयं चाहते है कि इस विषय पर पर्याप्त विचार विनिमय हो। मैंने अपना पहला लेख इसी दृष्टि से लिखा भी था। (जैन संदेश, भा. ७, सं. ३२)।

४

शास्त्री जी के उत्तर पर विचार

(लेखक—प्रो० हीरालालजी, अमरावती)

जैन सन्देश भाग ७ संख्या ३१ और ३२ में पंडित फूलचन्दजी शास्त्री ने संख्या २९ मे उठाई हुई मेरी शंकाओं का उत्तर दिया

है। यहाँ जिस क्रम से शंकायें उठाई गई थीं, उसी क्रम से पंडितजी के उत्तरों पर विचार किया जाता है।

(१)

मेरी पहली शंका यह थी कि योनिनी शब्द से द्रव्य को छोड़कर केवल भावमात्र स्त्रीवेद का अर्थ ग्रहण करने के लिये क्या कोई व्याकरण निरुक्त आदि भाषा शास्त्र का आधार है? पंडितजी यह तो मानते हैं कि निरुक्ति से योनिनी का भाव स्त्रीवेद अर्थ सिद्ध नहीं होता और वे यह भी स्वीकार करते है कि योनिनी शब्द की उस अर्थ में प्रसिद्धि भी नहीं है। फिर भी वे नाम स्थापनादि निक्षेपो के आश्रय से योनिनी शब्द का निरुक्त और प्रसिद्धि के विरुद्ध भाव स्त्रीवेद अर्थ लेना संभव बतलाते हैं जिसका कारण वे यह देते है कि 'प्रकृत में वेदनोकषाय के उदय की प्रधानता है'। किन्तु यदि यही बात थी, तो उसके स्पष्टबोधक 'स्त्रीवेदी' शब्द का प्रयोग न करके शास्त्रकार ने योनिनी शब्द का प्रयोग क्यों किया जिसकी निरुक्ति और प्रसिद्धि दोनो उस अर्थ के विरुद्ध हैं! पंडितजी का कहना है कि निरुक्ति और प्रसिद्धार्थ को छोड़ कर शब्दों के अन्य अर्थ मे प्रयोगरूप 'व्यत्यय हजारों मिलेगे'। मेरी पंडितजी से प्रार्थना है कि वह प्रकृत ग्रन्थ गोम्मटसार मे से दस-पाँच ही ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करने की कृपा करें जहाँ शास्त्रकार ने किसी संज्ञाविशेषका लक्षण एक प्रकार समझाया हो और विना किसी सूचना के उसका प्रयोग उससे विपरीत या भिन्न अर्थ में किया हो। प्रकृत विषय पर ऐसे ही उदाहरण लागू हो सकते हैं क्योंकि यहाँ शास्त्रकारने पहले स्पष्टतः योनि शब्द का द्रव्यवेद अर्थ विस्तार से

समझाया है, फिर योनिनी शब्द का उपयोग किया है, आगे भाववेद का विवेक अलग किया है, एवं प्रकृत में योनिनी शब्द का अर्थ सब संस्कृत व हिन्दी टीकाकारोंने द्रव्य स्त्रीवेद बतलाया है। इस सब व्यवस्था के विपरीत अर्थ ग्रहण करने के लिये पंडितजी को उक्त सब बातो के निराकरण पूर्वक प्रबल प्रमाण उपस्थित करना चाहिये।

(२)

मेरी दूसरी, तीसरी और चौथी शंका का उत्तर पंडितजी के इस कथन से ही हो जाता है कि " जिस प्रकार एक पर्याय में एक ही वेद का उदय रहता है, वैसी कषायादि की बात नहीं है। अतः वेद का गति के साथ सामंजस्य बैठ जाता है, अन्य का नही "। किन्तु इस पर स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब भाववेद किसी द्रव्यवेद से सम्बद्ध नहीं है, तब वह एक पर्याय में कषायादि के समान बदल क्यो नहीं सकता ? एक पर्याय भर में जो एक ही वेद का उदय माना गया है, दूसरे का कदापि नहीं, इसका कारण क्या है ?

(३)

मेरी पांचवी शंका थी कि जब गतिमार्गणा और वेदमार्गणा दोनों में भाववेद की ही विवक्षा रही तो द्रव्यवेद की शास्त्रीय व्यवस्था कहाँ से समझी जाय ? इसका उत्तर पंडितजीने यह दिया है कि "द्रव्यवेद की स्वतंत्र व्यवस्था नहीं संकलित की गई, स्थान स्थान पर जो फुटकर सूचनाएँ मिलती हैं उन्हीं के आधार से द्रव्यवेद का निश्चय करना पड़ता है।" इससे तो पंडितजी के मतानुसार

जैन कर्म सिद्धान्त और प्राणिशास्त्र बहुत त्रुटिपूर्ण सिद्ध होता है कि एक ओर तो उसमें जीवों के शरीरगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों के अनुसार भी विभाग किये गये हैं, और दूसरी ओर द्रव्यवेद जैसे अत्यन्त स्थूल और प्रभावशाली विभाग की कोई व्यवस्था ही नहीं बाधी गई। हम तो यह समझते है कि शास्त्रकारने योनियों के भी सूक्ष्म भेद करके समझा दिये है, कैसी योनि से कैसे जीव उत्पन्न होते है यह भी बतला दिया है, और प्रकृत में, पुरुष व योनिनी जीवो के भी भेद कर दिये है, जैसा कि टीकाकार यहॉ द्रव्यवेद की विवक्षा स्पष्टतः स्वीकार कर रहे है। किन्तु यदि ऐसा नहीं है तो हम पंडितजी से प्रार्थना करेगे कि वे उन फुटकर सूचनाओ का ही संकलन करके उसकी व्यवस्था प्रस्तुत करने की कृपा करे जिससे जिज्ञासुओं का उपकार हो और यह स्खलित सिद्धान्त कुछ पूर्णता को प्राप्त हो जाय।

(४)

मेरा छठवा प्रश्न था कि यदि गतिमार्गणा में भाववेद की अपेक्षा ही विभाग किये गये है तो पुरुष, स्त्री और नपुंसक, इस प्रकार तीन विभाग क्यो नहीं किये गये? दो ही क्यो किये? पडितजी यहॉ स्वीकार करते है कि "यही एक प्रश्न ऐसा है जो जी को लगता है और उल्लिखित समस्त प्रमाणो के रहते हुये भी मनुष्य को चक्कर मे डाल देता है।" तो भी पडितजी उसका समाधान इस प्रकार करते है— "अभी तक के अनुसन्धान से मै तो इस नतीजे पर पहुचा हूँ कि जिस प्रकार मनुष्य और तिर्यंचो मे स्त्रीवेदियों की स्वतन्त्र सख्या परम्परया प्राप्त हुई, उस प्रकार

पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी जीवो की अलग अलग संख्या परम्परा से नहीं प्राप्त हुई। यही सबब है कि तीन वेदों के आधार से तीन भेद नहीं किये गये।" यहां फिर पंडितजीने सिद्धान्त को ही त्रुटित व स्खलित बतलाकर अपनी बात का निर्वाह किया है। किन्तु यह बात युक्तिसगत नहीं जान पड़ती, क्योंकि यदि परम्परा से यहाँ भाववेद की अपेक्षा भेद करते आये होते तो या तो तीनों वेदो की अलग अलग व्यवस्था सुरक्षित रहती जैसा कि वेदमार्गणा में पाया जाता है, या फिर उसके आधार पर भेद ही नही किया जाता। कम से कम शास्त्राकार विभाग तो उचित रीति से करते और फिर कह सकते थे कि अमुक विभाग की सख्या या व्यवस्थादि का उपदेश नष्ट हो गया है, जैसा कि शास्त्रो में अनेक स्थलोंपर पाया जाता है। स्त्री की व्यवस्था कायम रही और पुरुष व नपुसको की अलग अलग व्यवस्था नष्ट हो गई इससे सुस्पष्ट है कि उस व्यवस्था मे भाव नहीं, द्रव्य का आश्रय प्रधान रहा है जिसके अनुसार नपुसक का कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं ठहरता। यदि अन्य प्रकार समाधान बनता हो तो बतलाया जाय?

(५)

मेरी सातवी शंका थी कि वेदवैषम्य कर्मसिद्धान्तानुसार सिद्ध नहीं होता। इसका पंडितजीने दो प्रकार से समाधान करने का प्रयत्न किया है—एक आगम के उल्लेखों द्वारा और दूसरे युक्तियों द्वारा। यहाँ हम उन दोनों प्रकारो पर क्रमशः विचार करेंगे।

(अ) पंडितजी के आगम परम्परा सम्बन्धी वक्तव्यों पर हम तीन भागो मे विचार करेंगे—

(१) वेदवैषम्य को स्वीकार करने वाली आगमपरम्परा कितनी प्राचीन है ?

(२) वेदवैषम्य को स्वीकार करने से जीव जगत् में कैसी परिस्थिति उत्पन्न होती है, और वह कहां तक प्रत्यक्ष सिद्ध है ?

(३) वेदवैषम्य जन्य जीवभेदोंका जीवकांड के प्रकृत प्रकरण में पचेन्द्रिय पर्याप्तों और योनिमतियों के बीच कैसा विभाग ठीक बैठता है।

(१) आगमपरम्परा मे से पंडितजीने तीन ग्रन्थों के उल्लेख प्रस्तुत किये है- एक गोम्मटसार जीवकांड गाथा २७१ व उसकी टीकाओंका। दूसरा अमितगतिकृत पचसग्रह गाथा १९२ –१९४ का, और तीसरा श्वेताम्बरीय बृहत्कल्पसूत्र की गाथा ५१४७ और उसकी टीका का। इन उल्लेखो में दिगम्बर परम्परा के अन्तर्गत अमितगति ही सबसे प्राचीन ग्रन्थकार हैं जिन्होंने वेद के नौ भग बतलाये हैं। उनसे पूर्ववर्ती नेमिचन्द्राचार्यने नौ भगों का कहीं उल्लेख नहीं किया, केवल क्वचित् वैषम्य का संकेतमात्र किया है। पंडितजीने गोम्मटसार से पूर्व की परम्परा का कोई उल्लेख नहीं किया। किन्तु जैन कर्म सिद्धान्त की परम्परा गोम्मटसार से पूर्व की भी तो है। अतएव मैने उस पूर्ववर्ती परम्परा को भी जान लेने का प्रयत्न किया है जिसके फलस्वरूप मुझे ज्ञात हुआ है कि अकलंकदेवकृत राजवार्तिक में भी वेद का विचार है और वहा भी क्वचित् वेदवैषम्य का विधान किया गया है। पर नौ भगो का वहां भी कोई संकेत नहीं है। उनसे पूर्ववर्ती पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि में लिंग के द्रव्य और भाव रूप से दो भेद किये हैं व पुरुष और

स्त्री वेद के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। पर न तो उनके नौ भेदों का वहा कोई संकेत है और न वैषम्य का ही कोई विधान है। हां, उनकी कुछ अन्य व्यवस्थाओं परसे यह अनुमान किया जा सकता है कि उन्हें वेदवैषम्य इष्ट था।

पूज्यपाद से पूर्ववर्ती साहित्य में नौ भेदों का तो क्या, वैषम्य-मात्र का कोई उल्लेख हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। वेद का विचार वट्टकेरकृत मूलाचार में भी है और शिवार्यकृत भगवती आराधना में भी है। किन्तु वहाँ वैषम्य का लेशमात्र भी संकेत नहीं पाया जाता। षट्खंडागम सूत्रों के प्रथम खंड जीवस्थान की चूलिका में समस्त कर्मसिद्धान्त का विशद विवेचन किया गया है (देखो पुस्तक ६)। उसकी प्रकृतिसमुत्कीर्तन, स्थानसमुत्कीर्तन, उत्कृष्टस्थिति, जघन्य-स्थिति आदि चूलिकाओं में नाना प्रकार से कर्मों की व्यवस्था पर विचार किया गया है। किन्तु वहां वेदवैषम्य का सकेत मात्र भी हमें कहीं प्राप्त नहीं हो सका। इन सूत्रो की टीका धवला मे वीरसेना-चार्य ने सूत्रगत विषय को खूब विस्तार से समझाया है। उन्होंने कर्मों के योगो से उत्पन्न होने वाले भग खूब बतलाये हैं जिनकी संख्या कहीं कहीं चार हजार से भी ऊपर पहुच गई है। पर यहां भी वेद के नौ भेदों का तो क्या वैषम्यमात्र का कहीं कोई उल्लेख देखने मे नहीं आया। अतएव दिगम्बर परम्परा के सम्बन्ध में हम न्यायत: यह कह सकते है कि प्राचीनतम काल से लगाकर पूज्यपाद तक न तो वेद के नौ भगों का कोई विधान है, और न वेदवैषम्य का कोई उल्लेख है। पूज्यपाद ने ही पहले पहले वेदवैषम्य को स्वीकार किया है, सो भी अर्थापत्ति के रूप में न कि स्पष्ट विधान

द्वारा। उसी आधार से अकलंक एवं नेमिचन्द्र ने अपने अपने ग्रंथों में क्वचित् वेदवैषम्य का उल्लेख कर दिया। किन्तु उन्होंने भी नौ भेदों का विधान नहीं किया। ग्यारहवीं शताब्दी में ही अमितगति द्वारा वेदों के नौ भेदों का विधान पहले पहले हमारे सन्मुख आता है और उसी के अनुसार गोम्मटसार की टीकाओं में वे भेद पाये जाते हैं।

अब श्वेताम्बर सम्प्रदायकी परम्परा पर आइये। वहां का केवल एक ही उल्लेख पण्डितजी ने प्रस्तुत किया है और वह भी बृहत्कल्पसूत्र का है। इस ग्रन्थ की रचना का काल निर्णीत नहीं हुआ, पर ग्रन्थ बहुत प्राचीन नहीं मालूम होता। उसकी रचना मूल कल्पसूत्र और कल्पसूत्र निर्युक्ति के आधार पर हुई कही गई है। पर वेदो के वैषम्य व नौ भगो का कथन न तो कल्पसूत्र मे है और न निर्युक्ति मे। श्वेताम्बरीय कर्म सिद्धान्त का विशेष परिचय छह कर्मग्रन्थों तथा पचसग्रह, कर्मप्रकृति, प्रवचनसारादि ग्रन्थों मे पाया जाता है। किन्तु इनमें कहीं उक्त वैषम्य का उल्लेख हमारे दृष्टिगोचर नही हुआ। बृहत्कल्पसूत्र की सारी रचना पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि उसके कर्ता की दृष्टि शास्त्रचिन्तन की ओर उतनी नहीं रही जितनी ग्रन्थ में सब कुछ समाविष्ट कर देने की ओर थी। ऐसा अनुमान होता है कि कर्त्ता को पता चला कि दिगम्बर ग्रन्थो में तीन वेदो के संयोगी भग नौ बनाये गये हैं। उन्हें इतना सूक्ष्म विचार श्वेताम्बर ग्रन्थो में नहीं दिखाई दिया। यह उन्हे एक कमी मालूम हुई और बिना इस बात का विचार किये कि दिगम्बर ग्रथोमें वेदवैषम्य क्यों स्वीकार-करना पड़ा है, एव नौ भंग किस प्रयोजन से बनाये गये हैं, तथा

उनकी वह सार्थकता श्वेताम्बर मान्यता में घटित होती है या नहीं, उन्होंने वह भग अपने ग्रन्थ में भी समाविष्ट कर लिये। प्रयत्न करने से सभव है बृहत्कल्पसूत्र से आगे पीछे के कुछ और ग्रन्थों में भी वेदवैषम्य या भंगों के उल्लेख मिलें। किन्तु विचार करने से जो बात मैंने इधर उक्त ग्रन्थ के विषय में कही है प्राय· वही उनके विषय मे भी पायी जावेगी। अतएव इन उल्लेखो के आधार पर श्वेताम्बर आम्नायमें वेदवैषम्य की मान्यता स्वीकार नहीं की जा सकती।

(२) उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेदवैषम्य की मान्यता दोनो सम्प्रदायों मे अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही है, प्राचीन ग्रंथों मे उसके लिये कोई आधार नहीं है। तो भी हमें यह समझने का प्रयत्न करना चाहिये कि उक्त नौ भंगों द्वारा जीव जगतमें कैसी परिस्थिति उत्पन्न होती है एवं वे भग क्या किसी प्रकार सभव व कर्म सिद्धान्त के अनुकूल सिद्ध हो सकते है। ये नौ भग इस प्रकार बनते हैं—

१—द्रव्य और भाव दोनों से पुरुष।
२—द्रव्य और भाव दोनों से स्त्री।
३—द्रव्य से पुरुष और भाव से नपुंसक।
४—द्रव्य से स्त्री और भाव से नपुंसक।
५—द्रव्य से पुरुष और भाव से स्त्री।
६—द्रव्य से स्त्री और भाव से पुरुष।
७—द्रव्य से नपुंसक और भाव से पुरुष।
८—द्रव्य से नपुसक और भाव से स्त्री।
९—द्रव्य और भाव दोनों से नपुंसक।

इनमें के प्रथम चार भंगों के सम्बन्ध में तो कहीं कोई मतभेद नहीं है। वे शास्त्र-सम्मत और दृश्यमान जगत् में प्रत्यक्ष-सिद्ध भी हैं। उनमें सब शास्त्रीय व्यवस्थायें भी घटित हो जाती हैं। किन्तु शेष पाच पर विचार करने की आवश्यकता है।

(५) जो प्राणी द्रव्य से पुरुष और भाव से स्त्री होगा, उसके पुरुष वेद के अभाव के कारण जीवन भर स्त्री की चाह नहीं होगी, अतएव वह स्त्री संभोग कभी करेगा ही नहीं। किन्तु स्त्री वेद के उदय से वह पुरुष की चाह करेगा, किन्तु पुरुष से कोई वैधिक समोग असंभव होगा। अतएव यह वेदोदय जीवन भर निष्फल ही रहेगा। क्या दृश्यमान जगत् में ऐसे प्राणी पाये जाते है, और यदि पाये जाते है तो उनमें स्त्रीवेदोदय मानने की क्या सार्थकता है?

(६) जो प्राणी द्रव्य से स्त्री और भाव से पुरुष होगा उसके भी पूर्वोक्त प्रकार विडम्बना होगी एव जीवन भर वह प्राणी कोई वैधिक रतिक्रीडा नहीं कर सकेगा। अतएव उसके सम्बन्ध में भी उक्त प्रश्न उपस्थित होते है।

(७-९) आगेके तीन भेदों के सम्बन्ध में सबसे बडा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पुरुष द्रव्यवेद मेहन और स्त्री द्रव्यवेद योनि के अतिरिक्त नपुंसक द्रव्यवेद होगा ही क्या? यदि उनके ये उपाग होंगे तो वे प्रथम चार भेदों में ही क्यों नहीं समाविष्ट किये जा सके? यदि उनके मेहन या योनि भी है और पुरुष या स्त्रीवेद का उदय भी है (७-८) तब वे नपुंसक किस अपेक्षा से कहलाये? क्या सृष्टि में ऐसे तीन प्रकार के नपुंसक तिर्यंच या

मनुष्य पाये जाते है, या शास्त्र मे ही क्या ऐसे प्राणियो का कहीं कोई चिन्तन पाया जाता है ?

यहां यह और एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि भाव और द्रव्य वेदों के मिश्रण से वेद के नौ भग हो सकते है तो उसी प्रकार भाव और द्रव्य इंद्रियों के भी पच्चीस भंग क्यों न स्वीकार किये जॉय ? ज्ञान और कर्म इन्द्रियो की भाव और द्रव्य सम्बन्धी व्यवस्था में भेद का कोई कारण दिखाई नहीं देता ?

वेदकी विषमता रहने पर भी भाववेदके विपाक की सिद्धि सम्बन्धी स्पष्टीकरण में पंडितजीका यह कथन है कि " बाह्य क्रिया पर जिस प्रकार हिंसा और अहिंसा, या मिथ्यात्व और सम्यक्त्व या सच्चरित्र व असच्चरित्र सर्वथा निर्भर नहीं है, उसी प्रकार वेदके विषयमे भी जानना चाहिये। " अर्थात् " एक पुरुष स्त्री से भोग करता हुआ भी यह सोच सकता है कि यदि मैं स्त्री होता तो इसी प्रकार पुरुष के साथ मौज करता। स्त्रीके भी ऐसे परिणाम हो सकते है कि यदि मै पुरुष होती तो नही मालूम मेरे पीछे कितनी सुन्दरियां लगी फिरतीं। यही तो भाववेद है, अतः इनकी विषमता में सन्देह करने का कोई कारण नही। "

यहाँ पर पंडितजीने अपने कथन में जो ' सर्वथा निर्भर नहीं है ' वाक्य डाला है वह हमें कुछ सशय में छोड़ जाता है कि पडितजी का अभिप्राय यह है कि ' जरा भी निर्भर नहीं है ' या यह है कि कुछ अंश में निर्भर है और कुछ अंश में नहीं है। यदि दूसरे विकल्पानुसार उनका अभिप्राय था तो उन्हें यह भी स्पष्ट करना आवश्यक था कि कितने अंश में निर्भर है, कितने में

नहीं । शास्त्रीय चिन्तनमें यही सूक्ष्म भेद तो जमीन आसमान का अन्तर ला देता है । अस्तु ! पंडितजी के विशेष स्पष्टीकरण के अभाव में उनके द्वारा निकाले हुए निष्कर्ष पर दृष्टि रखते हुए हम बाह्य क्रिया और उसके कर्त्ता के तत्सम्बन्धी भावों के मेल पर अपनी समझ के अनुसार कुछ विचार करेंगे। कोई भी शारीरिक क्रिया वेदनीय कर्म के उदय से या तो संकल्पपूर्वक होगी और उसी अनुसार कर्ता की उसमें रति होगी । या वह क्रिया प्रमादजन्य होगी, अथवा किसी बाह्य प्रेरणा व बलात्कार के कारण होगी, जिसस उस क्रिया मे उसे अरति रहेगी । उस क्रिया के कालमें कर्त्ता की जो राग-द्वेष रूप मन की प्रवृत्ति होगी वह कषायोदय के कारण होगी, एवं उस क्रिया पर से अनुमान-तर्क रूप से जो चिन्तन होगा, वह श्रुतज्ञान का विषय होगा । इसी अनुसार किसी पुरुष या स्त्रीको अपने वेद के उदय से एक वेदना उत्पन्न होगी जिससे तत्सम्बन्धी शरीरावयवो में उत्तेजना एवं रतिक्रीडा में प्रवृत्ति होगी और वह उसके रस का अनुभव करेगा। यही उसके वेद का उदय व विपाक कहा जा सकता है । इसी काल में यदि वह प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान या आगम के आधार पर कुछ चिन्तन करेगा तो वह श्रुतज्ञान रूप क्षयोपशम भाव ही माना जासकता है । उसमे तद्भावरूप वेदन के अभाव होने से वह भाव औदयिक नहीं कहा जा सकता । अतएव जिस चिन्तन को पंडितजी ने वेदोदय मान लिया है वह शास्त्र से वेदोदय सिद्ध नहीं होता। और यदि उसे वेदोदय माना ही तो एक साथ दो वेदों के उदय का प्रसंग आवेगा-एक तो वह जिसके उदय से संकल्प पूर्वक क्रिया की जारही है और जिसके रस का स्पष्ट अनुभव होरहा है; और दूसरे

वह जिसका चिन्तन होरहा है। दूसरी आपत्ति इस मान्यता में यह आती है कि उस प्रकार इच्छा व चिंतना तो जीवन में अनेक वार भिन्न भिन्न वेदानुभव के लिये हो सकती है जिससे एक जीवन में वेद परिवर्तन का भी प्रसग आवेगा। तीसरे ऐसा चिन्तन तो नारकियों, भोगभूमि के जीवो, एवं देव-देवियों मे भी संभव है, तब फिर वहां भी वेदवैषम्य क्यों न माना जाय? चौथी आपत्ति यह भी है कि केवल चिन्तन या तदनुसार शारीरिक क्रिया मात्र से भी यदि किसी कर्म का उदय माना जावे तो जो व्यक्ति इन्द्र या इन्द्राणी बनने की इच्छा करते है व तदनुसार विडम्बन भी करते है उनमें देवायु का उदय मानना पडेगा। जो व्यक्ति नरक का वृत्तान्त पढ़कर या सुन-कर सोचते है कि यदि हम पाप करेंगे तो हमे भी ऐसे ही दुख भोगने पड़ेगे, या उन दुखो का नाटक करके भी दिखाते है उनमें नरकायु का उदय मानना पड़ेगा। पाचवे, यदि इसी चिन्तन रूप इच्छा को वेदोदय माना तो क्या उक्त स्त्री पुरुषों मे यही चिन्तन उनके जन्म से लगाकर मरण तक रहेगा, क्योंकि जीवन भर एक ही वेद के उदय का नियम है? इत्यादि। अतएव पंडितजी कृपया विचार कर देखें कि जिस प्रकार उन्होंने वेदोदय मान लिया है और उसे वेद-वैषम्य के उदाहरण रूप पेश किया है वह क्या सिद्धान्तानुसार घटित होता है?

(२) पर यदि वेदवैषम्य जन्य उक्त नौ प्रकार के जीव माने भी तो प्रश्न यह होता है कि इनका समावेश जीवकाण्ड के पंचेद्रिय पर्याप्त और योनिमतियों में किस प्रकार होगा? चूंकि पंडितजी के मतानुसार जीवकाण्डकार ने यहाँ शुद्ध भाववेद के

अनुसार विभाग किये है एवं पुरुषवेदी और नपुसकवेदी जीवों को एक ही साथ ग्रहण किया है, अतएव उसके अनुसार उपर्युक्त नौ भगों में से १, ३, ४, ६, ७ और ९ ये छह प्रकार के प्राणी पंचेन्द्रिय पर्याप्तों में समाविष्ट होंगे, एवं शेष २, ५ और ८ ये तीन प्रकार के जीव योनिमतियो में प्रविष्ट होंगे । तब क्या ये ही तीन प्रकार के मनुष्य समस्त पर्याप्त मनुष्य राशि के त्रिचतुर्थ भाग प्रमाण कहे गये हैं, एव क्या इसी विभागानुसार पचेन्द्रिय पर्याप्त व योनिमती मनुष्यनियों के लिये बाधी हुई अन्य सब व्यवस्थायें घटित होंगी ?

यही बात संक्षेप में मैने अपने प्रथम लेख की शका ८ में पूछी थी जिसपर आकर पंडितजीने लिखा है कि " सातवें और आठवे प्रश्नों का उत्तर हमारे प्रारम्भिक कथन से ही हो जाता है, अत: उसका अलग से विचार नहीं करते । " किन्तु पडितजी के उस प्रारम्भिक कथन में अपने सातवें प्रश्न का उत्तर तो मिला जिस पर विचार यहां प्रस्तुत है, किन्तु प्रयत्न करने पर भी मुझे वहा या लेख में अन्यत्र कहीं भी अपने आठवें प्रश्न का उत्तर नहीं मिला । यदि वह मिल गया होता तो संभवतः यहाँ प्रस्तुत प्रश्न को उठाने की अवश्यकता न पड़ती । पर संभव है यह मेरे ही दृष्टिदोष या अज्ञान का परिणाम हो और शास्त्रीजी का उत्तर किसी रूप मे उनके लेखमें वर्तमान हो । कृपया पडितजी अब उसका स्पष्ट उत्तर देंगे तो अच्छा होगा । एवं इस प्रकार दोष पुनः न उत्पन्न हो इसके लिये मै उनसे प्रार्थना करूंगा कि वे प्रस्तुत लेख के सब प्रश्नो के उत्तर उन उन प्रश्नों की क्रमसंख्या का उल्लेख पूर्वक देने का ध्यान रखेंगे । इससे मुझे व अन्य पाठकों को विषय के

समझने मे सुविधा रहेगी। इस प्रश्न के उत्तर से ही बहुत कुछ परिस्थिति स्पष्ट हो जावेगी।

(७ आ) अब हम पंडितजी के युक्तिक्षेत्र में आते हैं। यहा हमे पंडितजी की कही हुई तीन बातों पर विचार करना है। पंडितजी का कहना है कि—

(१) द्रव्य वेद और भाव वेद मे कार्य कारण सम्बन्ध है ही नही।

(२) द्रव्य और भाववेद भिन्न-भिन्न काल मे उत्पन्न होते है, क्योकि "अगोपांग का उदय नवीन शरीर ग्रहण के पहले समय से होता है और वेद नोकषाय का उदय नवीन भव ग्रहण के पहले समय से।"

(३) पुरुष, स्त्री व नपुंसक शरीर बनने में भाववेद कारण नहीं हैं, किंतु उत्पत्तिस्थानों में संचित पुद्गलवर्गणाओं की योग्यता मात्र है।

अब हम पंडितजी की इन युक्तिओं पर क्रमशः विचार करेंगे।

(१) पंडितजी की प्रथम युक्ति पर से हमे निम्न शंकायें उत्पन्न होती है जिनके समाधान की आवश्यकता है—

(क) यदि द्रव्यवेद और भाववेद मे कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है, तो अन्य कोई भी सम्बन्ध उनके बीच है या नहीं? यदि है तो कौनसा, और यदि नहीं है तो उन्हे लिंग के दो भेद मानने की सार्थकता क्या है? एवं देवगति और भोगभूमि में उनके बीच सदैव साम्य किस शक्ति के द्वारा उत्पन्न होता है?

(ख) मेहन को पुरुषलिंग और योनि को स्त्री लिंग क्यों माना जाय जब कि पुरुषवेद या स्त्री वेद से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है ?

(ग) स्त्री में गर्भधारण करनेकी एवं पुरुषमें गर्भ धारण कराने की योग्यता किस कर्म के उदयसे आती है ?

(घ) जिस प्रकार द्रव्यवेद और भाववेद में कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय में भी सम्बन्ध नही होना चाहिए। किन्तु यदि ऐसा ही है तो शास्त्रों में जो यह कहा गया है कि लब्धिरूप भावेन्द्रियके हेतु से ही जीव द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति की ओर व्यापार करता है, उसका क्या अभिप्राय होगा ?

(२) पंडितजी की दूसरी युक्ति पर से निम्न शकायें उपस्थित होती है—

(ङ) भाव कर्म के उदय में आने का क्रम यह बतलाया गया है—लब्धि, निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग। अतएव नवीन भव ग्रहण के प्रथम समय से लगाकर अपर्याप्तकाल में वेद का अव्यक्त सत्व तो रह सकता है, किन्तु उपकरण के अभाव में वह उदय मे किस प्रकार आसकेगा ? बिजली की बैटरी तैयार होते हुए भी जब तक उसमें योग्य बल्व न जोड़ा जायगा तब तक प्रकाश किस प्रकार हो सकेगा ?

(च) यदि वेद का उदय पहिले से ही हो रहा है, तो उसके उपांग की रचना किस सार्थकता के लिए होती है ? जिसे विना प्रयास के ही पर्याप्त प्रकाश मिल रहा है वह दिवाबत्ती का प्रबन्ध किस लिये करेगा ?

(छ) यदि भाववेदकी अपेक्षा न करके केवल नामकर्म ही उपांगों की रचना करता है, तो उन उपांगों में लिंगभेद किन विभाजक शक्तियों के द्वारा होता है ? अंगोपांग नाम कर्म के अन्तर्गत जो प्रकृतियां है उनमें औदारिक, वैक्रियिक व आहारक पुद्गल वर्गणाओं का तो विवेक है, पर वहां वेद का विवेक करने-वाली कौनसी प्रकृतियां है ?

(ज) यदि भाववेद का उदय नवीन भव ग्रहण करने के प्रथम समय से अर्थात् जीव की अपर्याप्त अवस्था से ही माना जाय और जीव विभाग वेदोदय के अनुसार ग्रहण किया जाय, तो जीवकाड के प्रकृत प्रकरण में स्त्रीवेदी अपर्याप्त जीवों की संख्या भी योनिमती जीवों मे सम्मिलित हो जायगी जिससे मनुष्यनियो का जो परिमाण पर्याप्त मनुष्यों के त्रि-चतुर्थ भाग कहा गया है वह समस्त पर्याप्त और अपर्याप्त स्त्रीवेदी मनुष्यनियों का सिद्ध होगा। क्या यही बात इष्ट है ?

(३) पंडितजी की तीसरी युक्ति पर से निम्न शंकाये खड़ी होती है—

(झ) क्या देव और देवियो के उत्पत्ति स्थान जुदे-जुदे होने और उनमे अलग अलग प्रकार की पुद्गलवर्गणाये संचित होने की मान्यता के लिये कोई आगम का आधार है ? नारकी और सम्मूर्च्छन जीवो के उत्पत्ति स्थानो में केवल नपुंसक शरीर बनाने-वाली वर्गणायें रहना मानने के लिये क्या आधार है ? पुद्गल परमाणु तो सब प्रकार के समस्त लोकाकाश में भरे हैं, फिर किसी विशेष प्रकार की वर्गणायें ही विशिष्ट स्थानों में हों और वहां अन्य

प्रकार की वर्गणाओं का अभाव हो, यह व्यवस्था कौन करता है, या किस नियामक शक्ति से फलित होती है? पुद्गल विशेषों को कहीं जाने से कौन रोकता है?

(ञ) स्त्रीवेदी जीवों को ही देवियों के उत्पत्ति स्थान मे और पुरुष वेदी जीवो को ही देवों के उत्पत्ति स्थान में ले जाने वाली कौनसी शक्ति है? देवगति तो सामान्य से एक ही प्रकृति है उसके भीतर वेदविभाग किस शक्ति के द्वारा होता है?

(ट) पुद्गल वर्गणाओ में अपने आप भिन्न भिन्न प्रकार के उपांग बनाने की शक्ति उनके कौन से गुणों से उत्पन्न होती है? यदि इस कार्य में वे जीवगत भावो की प्रेरणा की अपेक्षा रखते हैं तो वे जीवगत कौन से भाव होंगे जो उन्हें भिन्न भिन्न वेद रूप उपाग रचना की प्रवृत्ति देंगे? जो भाववेद शरीर रचना से पूर्व ही वर्तमान है, क्या वह अपने अनुकूल अंग रचना की प्रेरणा नहीं करेगा?

(ठ) भोगभूमियो के उत्पत्तिस्थानों में जब एक साथ एक स्थान पर स्त्री व पुरुष बनाने योग्य वर्गणाये संचित रहती है, तब वहा तो वेदवैषम्य की सम्भावना सबसे अधिक होना चाहिये। फिर भी वहां क्यों नहीं वेदवैषम्य उत्पन्न होता है? वहा कौनसी नियामक शक्ति काम करती है और वही शक्ति कर्मभूमि मे क्यो नहीं काम कर पाती?

इस प्रकार पंडितजी के उत्तरों, आगमोल्लेखों एवं युक्तियों पर विचार कर चुकने के पश्चात् अब मै पंडितजी के उन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न करता हू जो उन्होंने मुझ पर किये हैं। पंडितजी का पहला प्रश्न यह है कि यदि जीवकाण्ड में उक्त स्थल पर

भाववेद की विवक्षा न होकर द्रव्यवेद की विवक्षा है या जहां जो द्रव्यवेद होता है वहां वही भाववेद होता है ऐसा नियम है तो उसके प्रमाण उपस्थित करना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि मैं अपने प्रथम लेख में भी इस विषय पर अपने विचार सप्रमाण प्रकट कर चुका हू जिसके लिये मै पंडितजी का ध्यान शंका (७) के भीतर के कथन तथा अपने इस लेख के प्रारम्भिक अंश की ओर पुनः आकर्षित करता हूँ। एक तो जीवगत विभाग शरीरगत भेदों पर ही किये जा सकते हैं, केवल मानसिक भावों पर नहीं। पंडितजी स्वयं मानते हैं कि एक ही वेद जीवन भर शरीर के साथ बंधा रहता है इसीसे गतिमार्गणा में उसके आधार से जीवविभाग किये जा सके, किन्तु अन्य भाव उस प्रकार बंधे नहीं हैं, इससे उनके अनुसार वहां विभाग नहीं किये गये। दूसरे योनिमती शब्द स्पष्टतः द्रव्यस्त्री का बोध कराता है, क्योंकि स्वयं जीवकाडकार ने योनिका गर्भाशय अर्थ समझाया है, टीकाकारों ने योनिमती का द्रव्यस्त्री अर्थ किया है, एवं शब्द की प्रसिद्धि और निरुक्ति भी इसी अर्थ के पक्ष में है। अन्य कोई सूचना प्रकृत प्रकरण में ऐसी नहीं है जिसके कारण उसके अर्थ को तोड़ा मरोड़ा जाय और टीकाकारों के बचन को गलत सिद्ध किया जाय। तीसरे प्रस्तुत प्रकरण में जो केवल पुरुष और स्त्री लिंगी जीवोमें विभाग किया है, नपुसंक का अलग कोई विभाग नहीं किया गया, इससे स्पष्ट है कि यहां विभाग का आधार द्रव्यलिंग ही है जिसके अनुसार पचेन्द्रिय तिर्यंचों व मनुष्योंमें नपुसंक की अलग कोई सत्ता नहीं रहती। चौथे यदि भावोदय द्रव्यवेद के साथ बंधा हुआ न माना गया होता तो उसके भी कषायादि के समान

जीवन में बदलते रहने का प्रसंग स्वीकार किया जाता। जो सम्बन्ध शास्त्रकारों ने भाव और द्रव्य इन्द्रियों का बतलाया है वही भाव और द्रव्य वेद का होना चाहिये, नहीं तो वे सब शंकाएं उपस्थित होती हैं जो मैने अपने पूर्व लेख और प्रस्तुत लेख में उठाई है। पाचवें वेदनोकषाय ही तो ऐसा एक कर्म है जिसकी तीन अलग अलग प्रकृतिया मानी गई है, अतएव जहा भी तीनों वेदों का चाहे भाव से, चाहे द्रव्य से, कथन होगा वहाँ वेदनोकषाय का सम्बन्ध ग्रहण करना ही पड़ेगा। न तो किन्हीं पुद्गलवर्गणाओ मात्र मे और न किसी नामकर्म के भेद में वह शक्ति है जो वेदो की प्रेरणा विना शरीर में लिगभेद उपस्थित करदे, क्योंकि उनमे ऐसे भेद करनेवाली प्रकृतिया हैं ही नहीं।

पंडितजी का दूसरा प्रश्न यह है कि उन्होने अपने प्रथम लेख में जो अन्य प्रमाण उपस्थित किये है वे किस प्रकार प्रस्तुत विवेक के अग्रगामी न होकर अनुगामी है जैसा कि मैंने अपने प्रथम लेख में कहा है। पडितजीके जिन उल्लेखों को मैंने प्रस्तुत विवेक के अनुगामी कहा है वे है योनिमतियों के कर्मोदय सम्बन्धी, गुणस्थान सम्बन्धी एव कालानुगम सम्बन्धी। मेरा अभिप्राय यह था कि योनिमती का जो अर्थ गतिमार्गणान्तर्गत जीवों के मूल-विभाग में सिद्ध हो जायगा वही अर्थ अपने आप उक्त सर्व स्थलों पर व अन्यत्र जहां जहा उस शब्द का प्रयोग होगा वहा लगा लिया जायगा। उनको आगे करने से प्रस्तुत चर्चा में कोई लाभ नहीं होगा, केवल वितण्डावाद बढ सकता है। प्रस्तुत विषय के विवेक के लिये वे सीमायें पर्याप्त है जिनका मैंने निर्देश किया है और उनके

भीतर निर्णय हो जाने पर फिर उस निर्णयानुसार सर्वत्र विवेक सुलभता से किया जा सकता है। (जैन संदेश, भा. ८, सं. १-३)

५

प्रो. सा. का दूसरा लेख और उस पर विचार

(लेखक—पं फूलचन्द्रजी शास्त्री, बनारस.)

मेरा 'जीवकाण्ड के टीकाकारों की भूल' नाम का लेख जैन सन्देश भाग ७ संख्या २५ में प्रकाशित हुआ है। उस पर श्रीमान् प्रो० हीरालालजी, अमरावती, ने कुछ शंकाएं की थीं जो भाग ७ संख्या २९ में प्रकाशित हुई हैं। मैंने उनका उत्तर भाग ७ संख्या ३१ व ३२ में दे दिया था। अब पुनः मेरे उस उत्तर पर प्रो० सा० की 'शास्त्रीजी के उत्तर पर विचार' शीर्षक लेखमाला भाग ८ संख्या १, २ व ३ मे छपी है। इसमे प्रो० सा० ने अपनी पिछली बहुतसी शकाओं को तो दुहराया ही है, साथ ही महत्व के कुछ नये प्रश्न भी उपस्थित किये हैं। मै अपने श्रम, समय और शक्ति को देखते हुए भी प्रो० सा० के द्वारा उपस्थित की गई सब बातों पर विचार तो करूगा। किन्तु सम्भव है कुछ बातोंका उनकी इच्छानुसार सन्तोपजनक उत्तर न भी दिया जा सके। आशा है, इसके लिये प्रो० सा० व पाठक मुझे क्षमा करेगे।

प्रो० सा० ने 'शास्त्री जी के उत्तर' शीर्षक लेख में अपनी पहले की हुई शंकाओ के अनुमार विचार किया है। मैं भी उनके इस लेख का उसी क्रम से उत्तर देने का प्रयत्न करूंगा।

(१)

क्रम संख्या १ में प्रो० सा० का जो वक्तव्य है उसमें निम्न बातें विचारणीय प्रतीत होती हैं—

(१) शास्त्रकार ने स्पष्ट बोधक स्त्रीवेदी शब्द का प्रयोग न करके योनिनी शब्द का प्रयोग क्यों किया ?

(२) शास्त्रकारने पहले द्रव्यवेद अर्थ किया है, फिर उसके विरुद्ध अर्थ ग्रहण करने के लिये प्रबल प्रमाण उपस्थित करना चाहिये !

(३) निरुक्ति और प्रसिद्धार्थ के विरुद्ध शब्दोंके अन्य अर्थ में प्रयोग रूप व्यत्ययो के उदाहरण उपस्थित करे ! ये उदाहरण गोम्मटसार के होने चाहिये।

इन तीन बातो का इसी क्रम से उत्तर दिया जाता है।

(१) यद्यपि गतिमार्गणा में धर्म विशेषो की अपेक्षा प्रत्येक गति के अलग-अलग भेद किये गये हैं। यथा—मनुष्य के चार भेदों में सामान्य मनुष्य, यह जाति की मुख्यता से है। यद्यपि मनुष्य के शरीरकी पूर्णता महीनों मे होती है, किन्तु यहां शक्ति ही विवक्षित है, शरीर और उसके अवयवों की पूर्णता नहीं। योनिनी यह भेद स्त्रीवेद धर्म की मुख्यता से है। और लब्ध्यपर्याप्त यह भेद अपर्याप्त नाम कर्म की मुख्यता से है। फिर भी आगम में पर्याप्त मनुष्य यह पुरुष वेदी और नपुंसकवेदियो की, और योनिनी स्त्रीवेदियोकी संज्ञा मानी है। व्यवहार में हम जिनके द्रव्ययोनि दिखेगी उन सबको ही योनिनी कहेंगे। पर सिद्धान्तव्यवस्थामें जहा मुख्यार्थ है या रहा है, उसे ही योनिनी कहा है। हो सकता है कि नामकरण में व्यवहारका आश्रय

लिया हो या वैषम्य क्वचित् है इसलिये उसे गौण कर दिया हो। पर व्यवस्था मे यह सब बातें नहीं चलतीं। वहां तो किसी धर्म की प्रधानता ही व्यवस्था की नियामक हो सकती है और होती है। यही सबब है कि व्यवस्था में योनिनी शब्द मुख्यार्थ का वाचक हो जाता है। एक बात और है। वह यह कि यदि यहा 'जोणिणी' के स्थान में स्त्रीवेदी शब्द रखते तो पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी शब्द भी रखने पड़ते और तब जिस दृष्टि से यहा व्यवस्था की गई है वह न बनती। अतः यह सोचना कि स्पष्ट बोधक स्त्रीवेदी शब्द का प्रयोग न करके योनिनी शब्द का प्रयोग क्यों किया है, विशेष अर्थ नहीं रखता। यहाँ व्यवस्था यह है कि लब्ध्यपर्याप्तकों को अलग दिखाना था, पर वे केवल नपुंसक ही होते हैं, अतः नपुंसकवेदी यह स्वतंत्र भेद न किया और पर्याप्त नपुंसकवेदियों को पुरुषवेदियोंमें सम्मिलित करके इनकी वही संज्ञा रहने दी जो सब पर्याप्त मनुष्यों की द्योतक है। किन्तु विशेष वक्तव्य होने से स्त्रीवेदियोंका स्वतत्र भेद बनाया। फिर भी यहाँ वेद की मुख्यता से भेद नहीं किये जा रहे हैं, यह दिखाने के लिये स्त्रीवेदी शब्द का प्रयोग न करके 'जोणिणी' शब्द का प्रयोग किया। जोणिणी शब्द के प्रयोग की परम्परा आगे चल कर बतलाई है।

(२) यह तो मैं पहले ही लिख आया हूं कि जीवसमास प्रकरण मार्गणास्थान प्रकरण से सर्वथा भिन्न है। गोम्मटसार यह एक संग्रह ग्रंथ है, इसलिये इसमे संकलन करते समय विविध स्थलों से विविध प्रकार के विषयो को यथास्थान निबद्ध किया है। अच्छा होता यदि प्रो० सा० इन दोनों प्रकरणों को भिन्न-भिन्न मान कर

बिचार करते। इससे उनके चिन्तन की दिशा ही बदल जाती। पर मालूम होता है कि वे इस बात पर दृढ़ है कि जीवसमास में जिस अर्थ में योनि शब्द का प्रयोग हुआ है, उसी अर्थ में गोम्मटसारकारने उसका मार्गणास्थान में भी प्रयोग किया है। और इसलिये उसके टीकाकार ने योनिनी शब्द का अर्थ द्रव्य स्त्री करके कोई भूल नहीं की है। उनके इस विषय को स्पष्ट करने के पहले मैं गोम्मटसार का ही एक ऐसा प्रमाण दे देना चाहता हूँ जिससे प्रो० सा० को यह प्रतीति हो जायगी कि स्वयं गोम्मटसारकार योनि शब्द के किये गये अपने उस अर्थ से बचे नहीं है जो जीवसमास प्रकरणमें उन्होंने बतलाया है।

गोम्मटसार के प्रकृतिसमुत्कीर्तन नाम के अधिकार में लिखा है कि कर्मभूमि की महिलाओं के अन्तिम तीन संहननो का उदय होता है, आदि के तीन संहननो का नहीं। यथा—

अन्तिमतियसंहणणस्सुदओ
पुण कम्मभूमि-महिलाणं।
आदिमतिगसंहणणं णत्थि त्ति
जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥ ३२॥

तथा आगे उदय प्रकरण मे लिखा है कि पर्याप्त मनुष्य के जो १०० प्रकृतिया उदय योग्य बतलाई है उनमें से तीर्थंकर, आहारकद्विक, पुरुषवेद और नपुसकवेद को घटा कर स्त्रीवेद के मिला देने पर मनुष्यनी के ९६ प्रकृतियो का उदय होता है। यथा—

मणुसिणिए त्थीसहिदा,
तित्थयराहारपुरिससंढूणा।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि इन ९६ प्रकृतियों के उदय मे छह सहननों का उदय भी सम्मिलित है।

आशा है प्रो० सा० गोम्मटसार के इन प्रमाणों से ही महिला-द्रव्यस्त्री और मनुष्यनी-भावस्त्री मे अन्तर समझ लेंगे। साथ ही यह भी आशा है कि वे अब यह न लिखेंगे कि गोम्मटसारकार ने योनि शब्द का पहले जो अर्थ समझाया है मार्गणास्थानों मे भी वे उसी अर्थ में योनिनी शब्द का उपयोग कर रहे हैं।

इससे सम्भव है कि कोई यह समझे कि यह तो वदतोव्याघात दोष हुआ, सो भी बात नहीं है, क्योंकि न तो गोम्मटसारकार ने यह ही कहा है कि योनि का अर्थ सर्वत्र अमुक ही लेना चाहिये, और न वहा ही वे उसका एक अर्थ ले रहे हैं। वह कोई संज्ञा प्रकरण भी नहीं है। इस दृष्टिकोण से भी जीवसमासो के भेद मिलते है, इतने मात्र मे वह चरितार्थ है। फिर नहीं मालूम उसे सर्वत्र क्यों खींचा जाता है। व्यवस्था के अनुसार जहाँ जिसका जो अर्थ ग्राह्य हो वहां वह अर्थ लेना चाहिये।

अब रही संस्कृत व हिन्दी टीकाकारों की बात सो उन्होंने द्रव्यस्त्री अर्थ परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण किया। यह कोई उन पर दोषारोपण नहीं है, किन्तु वस्तुस्थिति का प्रकाशन है। व्यक्तिशः वे अपने लिये वन्दनीय है। ऐसी भूल का मै एक और उदाहरण दिये देता हूं।

जब मै छोटा था तब मैने, एक छहढाला में देखा था—

प्रथम नरक विन षट् भू
ज्योतिष बान भवन सँढ नारी।

किन्तु धीरे-धीरे विद्वानों ने उसके स्थान में बताया—

प्रथम नरक बिन षट् भू

ज्योतिष वान भवन सब नारी।

उन्होंने ऐसा क्यों किया, इसके लिये वे सर्वथा दोषी नहीं हैं। उन्हें आधार मिला और उन्होंने समझा यह आधार ठीक है। थोड़ा तर्क का सहारा लेते तो वे समझ जाते कि यह भूल है। पर वे उसे न समझ सके। आधार गोम्मटसार का है। यथा—

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसि-वाण-भवण-सव्वइत्थीणं।

इसकी संस्कृत टीका में लिखा है—

....सर्वतिर्यग्मनुष्यदेवस्त्रीणां च ...' आदि। अनुवाद मे लिखा है—

'...सर्व ही स्त्री देवांगना मनुष्यणी तिर्यंचनी....' आदि। किन्तु पाठ सही है छहढालाका जो मैने सबसे पहले प्रस्तुत किया। बात यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव कहां उत्पन्न नहीं होता, इस शंका का इस गाथा के तीन चरणो में समाधान है। अब यदि 'सव्वइत्थीण' पाठ रखते हैं तो मनुष्य और तिर्यंच नपुंसकों में 'सम्यग्दृष्टि' जीव के उत्पन्न होने का प्रसंग आता है। और यदि 'संढइत्थीण' पाठ शुद्ध मान लेते हैं तो यह दोष नहीं रहता।

पं० दौलतरामजी को 'संढइत्थीणं' वाला ही पाठ मिला होगा। पर आगे बुद्धिमान लोगों ने बिना सूचना के ही उसे बदल डाला। इस प्रकार एक बार अशुद्धि होगई कि वह घर कर बैठती है। यही भूल प्रकृत में टीकाकारों से हुई है।

एक उदाहरण और लीजिये—

सत्त्वस्थान प्रकरण की गाथा ३८१ की टीका करते हुए संस्कृत टीकाकार लिखते है—

'क्षपितसम्यक्त्वप्रकृतेरष्टत्रिंशच्छतकेऽपि ते एव त्रयो भंगाः। ...यो बद्धनारकायुस्तीर्थसत्त्वः स प्रथमपृथिव्यां द्वितीयायां तृतीयायां वा जायते।'

यहा पर सस्कृत टीकाकारने तो क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव को पहले, दूसरे और तीसरे नरक मे उत्पन्न करा ही दिया है। पर संस्कृत टीकाकार की इस भूल को पं० टोडरमलजी समझे और उन्होने उसे 'तो वह जीव नरक पृथिवी बिषैं उपजे' ऐसा कह कर सम्हाला है।

इसलिये संस्कृत और हिन्दी टीकाकारों ने लिखा है अतः वह सही है यह कोई बात नहीं है।

अब थोडा इस विषय को यो देखिये—वेदवैषम्य को स्वय गोम्मटसारकारने माना है। वेदवैषम्य के नौ भेद उसके टीकाकारने भी किये हैं। अब उनके मतसे वह वेदवैषम्य या वे नौ भेद कहीं घटित भी तो होने चाहिये। यहा न सही अन्यत्र जहां भी उनकी मानी हुई यह व्यवस्था बनती हो, आप उसके उदाहरण उपस्थित करें। मै अपनी तो कोई बात ही नही लिख रहा हूॅ। उन्होंने जो माना है, उसी की सार्थकता बतला रहा हूॅ सो भी आगमपरंपरा से फलित होने वाले प्रमेय को लेकर। संस्कृत टीकाकार यदि अपनी इस नौ भेदवाली व्यवस्था के मर्म को समझ जाते तो उन्हें वेदमार्गणा मे जो 'जोइसियवाण' इत्यादि २७७ नम्बर वाली गाथा की टीका करते समय 'जोणिणितिरिक्खपुरुसा' का अर्थ तिर्यंच द्रव्यस्त्री,

तिर्यंच द्रव्यपुरुष किया है वह नही करना पड़ता। यह तो वेद-मार्गणा है कुछ गतिमार्गणा नहीं। यहां तो भाववेद की अपेक्षा संख्या कही है? फिर क्यों यहां द्रव्यवेद आ टपका। यहां तो गतिमार्गणा का पिंड छोडा जा सकता था। पर हम देखते है कि यहां भी वही सब गतिमार्गणावाली संख्या अपना स्थान जमाए हुए है केवल उसे अल्पबहुत्व के रूप में परिवर्तित करके तीनो वेदोंवालों की संख्या फलित की गई है। इसीसे स्पष्ट है कि गति मार्गणा मे जोणिणी का अर्थ स्वयं गोम्मटसारकार के मन से भावस्त्री होता है द्रव्य स्त्री नहीं।

(३) मैने ' प्रोफेसर सा० के लेखका उत्तर ' शीर्षक लेख में लिखा था कि ' रही भाषा शास्त्र की बात सो भाषाशास्त्र तो शब्द की निरुक्तिमात्र में चरितार्थ है फिर चाहे आप उस शब्द का निरुक्ति से भिन्न अर्थ में ही क्यो न प्रयोग करें। ऐसे व्यत्यय हजारो मिलेंगे। तिस पर यहा योनि शब्द के अर्थ मे ही उसका प्रयोग है।' इसका भाव यह है कि लौकिक व्यवहार या शास्त्रीय व्यवहार सर्वथा निरुक्ति पर अवलंबित नहीं है। पर प्रो० सा० मेरे इस कथन पर से पूछते है कि ' मेरी पंडित जी से प्रार्थना है कि वह प्रकृत ग्रन्थ गोम्मटसार में से दस पांच ही ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करने की कृपा करें जहा शास्त्रकार ने किसी संज्ञा विशेष का लक्षण एक प्रकार का समझाया हो और बिना किसी सूचना के उसका प्रयोग उससे विपरीत या भिन्न अर्थ में किया हो। ' यहां प्रो. सा. ने मेरे कथन का जो निष्कर्ष निकाला है और तदनुसार मेरे सामने विचारके लिये जो अपूर्व बात रखी है मेरे ख्याल से उसका उत्तर न देना ही

उत्तर है। हां स्वयं प्रो. सा. जीवसमास प्रकरण को यदि संज्ञा-प्रकरण मानते हो और वहा योनि शब्द का जो अर्थ लिया गया है वही सर्वत्र गोम्मटसार भर में ये लागू समझते हों तो मेरे कुछ प्रश्न हैं जिनका मैं उनसे समाधान चाहूंगा।

(१) जीवसमास प्रकरण के अनुसार जब योनि शब्द का अर्थ द्रव्ययोनि ही है और गोम्मटसारकार ने यदि इसका सर्वत्र यह अर्थ लिया है तो महिला के तीन संहनन और जोणिणी के छह सहनन की व्यवस्था कैसे बनेगी, क्योंकि जीवसमास प्रकरण के अनुसार महिला और जोणिणीका एक ही अर्थ हुआ। अर्थभेद मानने पर तो व्यत्यय हो जायगा।

(२) वेदमार्गणा की गाथा २७७ में 'जोणिणि' शब्द आया है। प्रो. सा. का कहना है कि वेद विचार के लिये अलग से वेदमार्गणा है ही, गतिमार्गणा में उसका क्या काम। गति मार्गणा में तो द्रव्यवेद ही लिया गया है। अब यदि उनका यह कथन ठीक है तो वेदमार्गणा मे अलग से गोम्मटसारकार को अपने किये गये अर्थ से विरुद्ध अर्थ में जोणिणी शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिये था। क्या यह व्यत्यय नहीं है?

इस प्रकार की और भी शंकाएं की जा सकती है और उनके द्वारा यह बतलाया जा सकना है कि 'जोणि' शब्द का प्रो. सा. जो अर्थ ले रहे है वह अर्थ लेने से स्वयं गोम्मटसार मूल ग्रन्थ मे अवश्य व्यत्यय आता है। पर इसे यहीं छोड़कर मुल विषय की ओर आता हू।

हां तो मेरा यह कहना था कि भाषा शास्त्र तो निरुक्ति-मात्र में चरितार्थ है। फिर आप चाहे उस शब्द का निरुक्ति से भिन्न अर्थ मे ही क्यों न प्रयोग करें, ऐसे व्यत्यय हजारों मिलेंगे। सो यह सामान्य कथन है, कुछ गोम्मटसार के लिये ही नहीं। ढूंढने से गोम्मटसार में भी ऐसे व्यत्यय मिल जायंगे। श्रुत का अर्थ सुना हुआ होता है पर गोम्मटसार में उसका अर्थ ज्ञान विशेष लिया है। दर्शन का अर्थ देखना होता है पर गोम्मटसार में उसका अर्थ श्रद्धान लिया है। श्रद्धान शब्द पर तो सर्वार्थसिद्धि में एक शंका-समाधान ही किया है। वहां लिखा है—

'दृशेरालोकार्थत्वात् प्रसिद्धार्थत्यागः कुतः? मोक्षमार्ग-प्रकणात्।'

शंकाकार ने शंका की कि दृश् धातु का आलोक अर्थ प्रसिद्ध है अतः उसका यहां त्याग क्यों किया गया। तत्काल आचार्य ने उत्तर दिया कि यह मोक्षमार्ग का 'प्रकरण है अतः मोक्षमार्ग मे जो उपयोगी अर्थ होगा वही लिया जायगा।

आशा है, प्रो० सा० यही बात प्रकृत मे भी समझेंगे।

हमने जो यहां 'जोणि' का भाव अर्थ किया है वह जीवगत भेद की अपेक्षा से ही किया है। कर्मकाण्ड के प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार मे कर्म के नामादिरूप से चार भेद किये ही है। वहां यह भी बतलाया है—जीवविपाकी कर्मफल को भोगनेवाला जीव नोआगम भाव है। यथा—

णोआगमभावो पुण सगसगकम्मफलसंजुदो जीवो ॥ ८६

किन्तु पुद्गलविपाकी के लिये इसका निषेध भी किया है।

यथा—

पोग्गलविवाइयाणं णत्थि खु णोआगमो भावो ॥ ८६

प्रो० सा० के क्रम संख्या १ में किये गये सब प्रश्नों पर इससे पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। अतः अब मैं क्रम संख्या २ को लेता हूं।

(२)

क्रम संख्या २ के वक्तव्य से निम्न बात विचारणीय प्रतीत होती है कि कषायादि के समान एक पर्याय में वेद के नहीं बदलने का क्या कारण है। सो मैं स्वयं इस मान्यता की निश्चिति का अनुसधान कर रहा हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय में कुछ मान्यता-भेद रहा है। पर अभी मैं किसी एक निर्णय पर नहीं पहुंचा। इस लिये पहले कुछ भी लिखना असामयिक होगा। इस मान्यता में बहुत रहस्य है। फिर भी यह आगमिक विषय है, अतः सभी बातों की युक्तिया होनी ही चाहिये ऐसी कोई बात नही है। इतना सच है कि कषायो के समान न दर्शनमोहनीय ही है और न नोकषाय ही है, अतः कषायो को दृष्टान्त कोटि मे न लेना ही ठीक होगा।

(३)

पाचवीं शंका के उत्तर में जो मैंने यह लिखा था कि द्रव्य-वेद की स्वतंत्र व्यवस्था सकलित नहीं की गई। स्थान स्थान पर जो फुटकर सूचनाएँ मिलती है उन्हीं के आधार से द्रव्यवेद का निश्चय करना पड़ता है सो उससे मेरे मतानुसार जैन कर्मसिद्धान्त व प्राणिशास्त्र त्रुटिपूर्ण कैसे साबित हुआ। यह मै न समझा।

आचार्यों ने उपयोगी विषय को खूब लिखा है। पर जो वस्तु सर्वथा नियम में नहीं बांधी जा सकती उसके लिये वे ही क्या, कोई भी क्या करता। अब रही यह बात कि मैं उन तमाम फुटकर सूचनाओं का संकलन कर दूं जिनसे द्रव्यवेद और भाववेद की व्यवस्था पर प्रकाश पडे। सो इसके लिये प्रो. सा. को प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं है, वे मेरे बड़े हैं, व्यक्तिशः उनके प्रति मेरा बडा आदर है। उनका संकेत ही मेरे लिये पर्याप्त है। फिर भी इस काम को सर्वाङ्ग व्यवस्थित करने में साधन सामग्री की आवश्यकता पड़ सकती है। कोई संस्था या व्यक्ति चाहे तो यथा-सम्भव इस काम को किया जा सकता है। वास्तव मे मेरे सामने इस विषय के अभी कई ऐसे महत्व के प्रश्न हैं जिनका निर्णय करना कठिन हो रहा है। अनुसन्धान की आवश्यकता है, पर उसके लिये श्रम और समय की जरूरत है। (जैन सन्देश भा. ८ सं. ७)।

(४)

छठे प्रश्न में यह पूछा था कि गति मार्गणा में यदि भाववेद की प्रधानता है तो मनुष्यगति या तिर्यंचगति में पुरुष, स्त्री या नपुंसक ये तीन भेद क्यो नही किये गये। इसका समाधान मैंने यह किया था कि जिस प्रकार स्त्रीवेदियों की स्वतंत्र संख्या प्राप्त हुई उस प्रकार पर्याप्त पुरुष और नपुसकवेदियों की अलग-अलग संख्या नहीं प्राप्त हुई, इस लिये उनकी संख्या अलग-अलग नहीं बतलाई। इस पर प्रो० सा० ने लिखा है कि 'यहा फिर पडित जी ने सिद्धान्त को ही त्रुटित व स्खलित बतला कर अपनी बात का निर्वाह किया है।' सो इस पर मेरा प्रो० सा० से यही

निवेदन है कि न तो मैं सिद्धान्त को त्रुटित व स्खलित बतलाना चाहता हूँ और न अपनी बात के निर्वाह करने की ही इच्छा है। यह तो मैं फिर कभी लिखूंगा कि मेरा लिखना अनुसन्धान का एक परिणाम है। पर प्रो० सा० ने जो यह स्वीकार किया है कि वेद-मार्गणा में तीन वेदकालों की संख्या पाई जाती है सो वे कृपया उसे ही प्रकाशित करा दे। इससे मनुष्यों मे स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी मालूम पड जांयगे और तिर्यंच आदि मे भी मालूम पड जायगे। तब तो हम आपके मार्ग पर आ जांयगे या फिर आप हमारे मार्ग पर। बहुत सरलता से विचार विनिमय का नतीजा सामने आ जायगा। मेरा ख्याल है अभी आपने गति मार्गणा के उत्तर भेदो की संख्या और वेद मार्गणाकी संख्या पर ध्यान नहीं दिया। जरा ध्यान दीजिये। मेरा विश्वास है आप स्वयं उनकी एकता स्वीकार कर लेंगे।

आपने एक बात और लिखी है कि 'कम से कम शास्त्रकार उचित रीति से विभाग तो करते और फिर कह सकते थे कि अमुक विभाग की संख्या या व्यवस्थादि का उपदेश नष्ट हो गया है। ×× स्त्री विभाग की व्यवस्था कायम रही और पुरुष और नपुसको की अलग अलग व्यवस्था नष्ट हो गई इससे सुस्पष्ट है कि उस व्यवस्था में भाव नहीं द्रव्य का आश्रय प्रधान रहा है जिसके अनुसार नपुंसक का स्वतन्त्र स्थान नहीं ठहरता। यदि अन्य प्रकार समाधान बनता हो तो बतलाया जाय।' इस पर मेरा यह वक्तव्य है कि भेद तो तीन ही किये है। यथा, मनुष्य के चार भेदो मे सामान्य मनुष्य को छोड़ दीजिये। अब शेष रहे तीन भेद सो पर्याप्त

मनुष्यों में पुरुषवेदी आ गये, योनिमतियों में स्त्रीवेदी आ गये और लब्ध्यपर्याप्तकों में नपुंसकवेदी आ गये। अब केवल पर्याप्त नपुंसक रह जाते है सो उन्हें पर्याप्त मनुष्यो मे सम्मिलित कर लिया गया है, यही सबब है कि पर्याप्त 'मनुष्य यह सामान्य संज्ञा रखी। यदि इससे द्रव्य पुरुषों का ही ग्रहण करना इष्ट था जैसा कि प्रो. सा. मानते हैं तो फिर बतलावे कि पर्याप्त मनुष्य संज्ञा के रखने की क्या सार्थकता रही। उसके स्थान मे 'जोणिणी' के समान पुरुष यह सज्ञा रखनी थी। आपाततः इससे यह ध्वनित होता है कि पर्याप्त मनुष्य पद किसी एक का वाचक नहीं है। फिर कितने का वाचक है, यह प्रश्न उठता है सो इसका यह समाधान है कि स्त्रीवेदियो की संख्या अलग बतलाई है, अतः यह शेष रहे पर्याप्त पुरुषवेदी और पर्याप्त नपुंसकवेदी इन दो का वाचक है। मैने जो यह लिखा था कि मनुष्य यहा आकर हिचकिचा जाता है, उसका भाव केवल इतना ही था कि सामान्य मनुष्य व्यवस्था की इस सूक्ष्मता को नहीं समझता है इसलिये वह यहां आकर चक्कर में पड़ जाता है।

प्रो० सा० की ७ वीं शका का समाधान मैने आगम और युक्ति से किया था। उसमें से मेरे आगम सम्बन्धी को प्रो० सा० ने तीन भागों मे बाटा है जिसमें पहले भाग में जो वक्तव्य दिया है उसमे निम्न बाते विचारणीय है।

(१) मैने जो वेदवैषम्य के प्रमाण दिये है वे प्राचीन ग्रंथों के नही हैं। यद्यपि इससे पहले के ग्रंथों मे वेदवैषम्य का उल्लेख है पर वह सर्वार्थसिद्धि से और पहले का नहीं।

(२) धवला टीका में भी वैषम्य का कहीं भी उल्लेख नहीं

है। जब कि धवलाकार ने चूलिका अधिकार में कहीं-कहीं कर्मों के भेद चार हजार से अधिक भी किये है तब वेद के नौ भंगों का उल्लेख क्यों नहीं किया ?

(३) श्वेताम्बर परम्परा का जो उल्लेख मैंने उपस्थित किया है वह बहुत पुराना नहीं।

(४) ऐसा अनुमान होता है कि बृहत्कल्पसूत्र के कर्ता को पता चला कि दिगम्बर ग्रंथो में तीन वेदों के संयोगी भंग नौ बताये गये हैं, श्वेताम्बर ग्रन्थों मे नही; अतः इस कमी की पूर्ति करने के लिये, दिगम्बर ग्रंथों मे वेदवैषम्य क्यो स्वीकार किया गया है इसका विना विचार किये उन्होंने वे नौ भंग अपनालिये आदि।

आगे इन बातो का इसी क्रम से विचार करते है—

(१) इस मान्यता का अधिक से अधिक कितना पुराना उल्लेख मिलता है, इसका विचार करके मैंने प्रमाणों का संग्रह नहीं किया था। मेरी दृष्टि वहा यह दिखाने की थी कि यह मान्यता दोनो सम्प्रदायो में स्वीकार की गई है। किन्तु प्रो० सा० ने राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि से पहिले का उल्लेख न मिलने से वह मान्यता गढ़ी हुई तो मानी नहीं जा सकती। जब गाड़ी यहां तक पहुँच गई तो मूल से भी जा मिलेगी। सावधानी से चिन्तन का कार्य चालू रहना चाहिये। किन्तु इतने चिन्तन पर ही यह कह सकते है कि प्राचीनतम काल से लगा कर पूज्यपाद तक न तो वेद के नौ भंगों का कोई विधान है और न वेदवैषम्य का कोई उल्लेख है। पूज्यपाद ने ही पहले पहल वेदवैषम्य को स्वीकार किया है सो भी अर्थापत्ति के रूप मे न कि स्पष्ट विधान द्वारा। इसी

आधार से अकलंक एवं नेमिचन्द्र ने अपने–अपने ग्रन्थों में क्वचित वेदवैषम्यका उल्लेख कर दिया। किन्तु उन्होंने भी नौ भेदों का विधान नहीं किया··· ठीक प्रतीत नहीं होता।

(२) धवलाकार ने द्रव्यवेद और भाववेद की पृथक् मान्यता को स्वीकार नहीं किया सो बात नहीं है। धवला प्रथम खण्ड में ही इसका उल्लेख है। नौ भंग नहीं गिनाये न सही। प्रकृत में वैषम्य ही प्रयोजक है, नौ भंग तो वैषम्य की अन्तिम सीमा है। अब रही चूलिका में भंगों के गिनाने की बात। सो वहां तो यह बतलाया है कि प्रत्येक कर्म के कितने बन्धस्थान और उनके कितने भंग होते है। दो या दो से अधिक कर्मों के संयोग का वहां विचार ही नहीं किया है फिर आपको ये नौ भंग वहां कैसे मिलेंगे। दूसरे वह बन्ध प्रकरण है और प्रकृत विषय उदय से सम्बन्ध रखता है अतः कहीं की बात कहीं कैसे मिल सकती है आप स्वय सोच लीजिये। इसका तो आप उदाहरण ही न देते तो ही अच्छा था।

(३) बृहत्कल्पसूत्र कितना पुराना है यह तो मै नहीं जानता पर अमितगति से पुराना है। तब तो यह कहा जा सकता है कि नौ भंगों का सृजन सबसे पहले श्वेताम्बर परम्परा में हुआ। यदि यह अमितगति से भी पुराना न हो तो मैं एक और उल्लेख उपस्थित करता हूँ जो अमितगति से भी निश्चित प्राचीन है। वह उल्लेख तत्वार्थभाष्य की सिद्धसेनीय टीका का है। यथा—

'लिंगं त्रिभेदं स्त्रीत्वादि। तच्च लीन्त्वाल्लिंगमुच्यते, यस्मात् पुरुषलिंगनिर्वृत्तावतिप्रकटायामपि कदाचित् स्त्रीलिंगमुदेति न च स्पष्टं बहिरुपलभ्यते नपुंसकलिंगं वा आदि।

इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बर परम्परा में यह मान्यता प्राचीन है। जिन पंचसंग्रह आदि में आप इसका निषेध बताते हैं उनसे भी इसकी सूचना मिलती प्रतीत होती है। बृहत्कल्पसूत्रकारने तो वही बात कही है जो उन्हें परम्परा से मिली। यह कुछ दिगम्बरो का अनुकरण नहीं है। पच्चीसो वर्षों से दिगम्बर अनुसन्धान-कारियों ने ऐसी ही कुछ धारणा बना रखी है जिससे उनकी विषय को समझने और अनुसंधान करने की इस ओर तो रुचि होती नहीं किन्तु विषय उलझता जाता है। यदि आप हजारों वर्ष पहले के उस वाद को पढ़ें जो स्त्रीमुक्ति के खण्डन मण्डन से सम्बन्ध रखता है तो आप एक बात अवश्य पायेंगे कि वे इस प्रश्न को लेकर नहीं झगडे। कारण स्पष्ट है। वर्तमान में वेदवैषम्य को स्वीकार करके समस्या के हल की ओर कदम उठाना ही ठीक होगा। उससे मूल प्रश्न पर पहुँचने में बड़ी सहायता मिलेगी।

(४) तीसरी बात का विचार करते समय ही बतला आये हैं कि बृहत्कल्पसूत्रकार के पहले भी यह मान्यता श्वेताम्बर परम्परा में थी, अतः उन्होंने इसे दिगम्बरो से नहीं लिया है। आशा है इससे प्रो. सा. अपने 'ऐसा अनुमान होता है कि कर्ता को पता चला कि दिगम्बर ग्रन्थों मे तीन वेदों के संयोगी भंग नौ बनाये गये है। उन्हें इतना सूक्ष्म विचार श्वेताम्बर ग्रन्थो में न दिखाई दिया। यह उन्हें एक कमी मालूम हुई और विना इस बातका विचार किये कि दिगम्बर ग्रंन्थों मे वेदवैषम्य क्यों स्वीकार करना पड़ा है एवं नौ भंग किस प्रयोजन से बनाये गये है तथा उनकी वह सार्थकता श्वेताम्बर मान्यता में घटित होती है या नहीं, उन्होंने वह भंग

अपने ग्रन्थ में भी समाविष्ट कर लिये। प्रयत्न करने से सम्भव है बृहत्कल्पसूत्र से आगे पीछे के कुछ और ग्रन्थों में भी वेदवैषम्य या भंगों के उल्लेख मिलें। किन्तु विचार करने से जो बात मैंने इधर उक्त ग्रन्थ के विषय में कही है प्रायः वही उनके विषय में भी पाई जावेगी। अतएव इन उल्लेखो के आधार पर श्वेताम्बर आम्नाय में वेदवैषम्य की मान्यता स्वीकार नहीं की जा सकती।' इस वक्तव्य को बदल देंगे।

दूसरे भाग के सम्बन्ध मे प्रो. सा. ने जो वक्तव्य दिया है उसमें प्रो. सा. ने इस क्रम से नौ भग बिठाये है—

१—द्रव्य और भाव दोनो से पुरुष।
२—द्रव्य और भाव दोनों से स्त्री।
३—द्रव्य से पुरुष और भाव से नपुन्सक।
४—द्रव्य से स्त्री और भाव से नपुंसक।
५—द्रव्य से पुरुष और भाव से स्त्री।
६—द्रव्य से स्त्री और भाव से पुरुष।
७—द्रव्य से नपुन्सक और भाव से पुरुष।
८—द्रव्य से नपुन्सक और भाव से स्त्री।
९—द्रव्य और भाव दोनो से नपुन्सक।

इनमें से प्रारम्भ के चार भंगों को तो प्रो० सा० ने स्वीकार किया है। शेष पांच भंगों मे प्रो० सा० को आपत्ति है। ५ वे भग के मानने पर यह आपत्ति की है कि ऐसे जीव के पुरुषवेद न होने से स्त्रीविषयक अभिलाषा नहीं उत्पन्न होगी, अतः यह जीवन भर स्त्री संभोग नहीं करेगा।

प्रो० सा० ने पांचवें भंग के मानने पर जो आपत्ति की है यदि वैसा ही मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है। ऐसे भी मनुष्य देखे जाते है जो स्वभावतः स्त्री से अरुचि रखते है। ऐसे भी मनुष्य देखे है जिनकी स्वभावतः प्रवृत्ति बालकों की ओर रहती है। ऐसे भी मनुष्य देखे जाते हैं जो स्त्री और बालक दोनों को समान रूप से चाहते है। प्रो० सा० का जो यह कहना है कि पुरुष का पुरुष से वैधिक संभोग असंभव है। सो वैधिक शब्द को हटा कर ही वे विचार करें। वर्तमान में जो सम्भोग के प्रकार सुनने को मिलते हैं उनसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि असम्भव कुछ भी नहीं। स्त्रियों के प्रजनन के न होने पर भी वे अन्य स्त्रियों से कृत्रिम प्रजनन से संभोग करती हुई पाई जाती है। देवों में देखिये सर्वत्र सम्भोग आवश्यक नहीं माना। सोलह स्वर्ग के ऊपर तो प्रवीचार ही नहीं माना। इससे स्पष्ट है कि वेद को हम जिस कसौटी पर कसते हैं वह कसौटी ही ठीक नहीं। यह समाधान का एक प्रकार हुआ। दूसरा यह है कि पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के यह लक्षण मिलते है कि जो दोषो से अपने को ढकता है वह स्त्री है। जो उत्तम काम करता है वह पुरुषवेद है और जो पुरुष और स्त्री दोनो नही है वह नपुंसक है। ये लक्षण प्राचीन मालूम होते हैं। जीवकाण्ड मे वेद के ये ही लक्षण संग्रहीत है। तत्त्वार्थभाष्य मे भी ये ही लक्षण मिलते है। धवला मे भी इन्ही को मुख्यता दी गई है। अतः इस दृष्टि से विचार करने पर नौ भगवाली व्यवस्था के स्वीकार कर लेने मे कोई दोष नहीं प्रतीत होता। छठे भग के मानने पर की गई आपत्तियों का

भी यही समाधान है। ७ से ९ तक भंगों में प्रो० सा० पूछते हैं कि द्रव्य नपुंसकवेद क्या होगा। सो इसका सीधा उत्तर यही है कि विकलता ही द्रव्य नपुंसक है। और ऐसे मनुष्य देखे भी जाते हैं जिन्हें हिजडा कहते हैं।

प्रो० सा० ने इसके आगे यह आपत्ति उठाई है कि जिस प्रकार वेद के नौ भंग बन जाते हैं उस प्रकार इन्द्रियों के २५ भंग क्यों नहीं बनते। इस पर मेरा यह कहना है कि उस-उस इन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम उस-उस जाति नामकर्म के अनुसार होता है और तदनुसार वह जीव अपनी जाति में आनुपूर्वी कर्म से पहुँच जाता है। इसलिये उसे उसी जाति की द्रव्येन्द्रियां प्राप्त होती हैं। यही सबब है कि यहां द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय का माध्यम जाति नामकर्म होने से जो भावेन्द्रिय होती हैं वही द्रव्येन्द्रिय भी होती हैं। इनके संयोगी भंग नहीं होते। सर्वार्थसिद्धि आदि में आप इन्द्रियों का लक्षण देखिये वहां जाति कर्म पहले आ विराजे हैं। हां आंगोपांग नामकर्म और निर्माण नामकर्म कृत विशेषता तो इन्द्रियो मे भी पैदा हो जाती है। पर विषमता नहीं पैदा होती। यही सबब है कि इन्द्रियों के २५ भंग नहीं बनते। पर जैसा कि हम पिछले मे भी लिख आये है वेदों मे विषमता को मिटाने वाला कोई माध्यम नहीं है। अधिकतर तो उदयानुसार सामग्री मिल जाती है। पर कचित् उदयानुसार सामग्री का न मिलना भी सम्भव है। अत: भाववेद और द्रव्यवेद मे विषमता होकर वह अधिक से अधिक नौ प्रकार की मानी जा सकती है। यह उदयानुसार सामग्री का न मिलना कर्मभूमि मे ही सम्भव है, क्योंकि यहां के सब साधन अनियमित है।

आगे प्रो. सा. ने मेरे इस अभिप्राय का जोरदार शब्दों में खंडन किया है कि 'वेद बाह्य क्रिया पर सर्वथा निर्भर नहीं है' साथ ही मैंने जो भाववेद को समझाने के लिये 'एक पुरुष स्त्री से भोग करता हुआ' इत्यादि लिखा था सो उसका भी खंडन किया है। पर मैं इस खंडन–मंडन में अपने को नहीं भुलाना चाहता। इस प्रक्रिया से दोनों मूल विषय से बहुत दूर चले जांयगे। सीधी बात यह है कि किसी एक वेद के उदय मे भी उससे विरुद्ध क्रिया बन जाती है। क्रिया का सम्बन्ध शरीर के अवयव और शरीरगत वीर्यादि धातुओं पर निर्भर है। पर कर्ता जिस क्रिया को कर रहा है परिणाम उसके विपरीत भी हो सकते है और होते है। ये परिणाम वेदनोकषाय के उदय से सम्बन्ध रखते है और किया द्रव्यवेद से। अतः विरुद्ध वेद का उदय होने पर उससे होने वाली अभिलाषानुसार किसी का ऐसा चिन्तना कि मै पुरुष होता तो सैकडो रमणियों से उपभोग करता, असगत नहीं है। सब जानते है कि चिन्ता ज्ञान की पर्याय है। प्रो. सा. ने स्वयं पाचवें भंग का खंडन करते समय भाववेद का कार्य 'चाह' बतलाया है। यह चाह भी तो ज्ञान की ही पर्याय है। पर इससे उस भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है जो हम और प्रो. सा. प्रकृत में वेद के कार्यरूप से बतलाना चाहते है। बस मेरे उस कथन को प्रो. सा. इसी निगाह से देखे। इससे सम्भव है उनके सब विकल्प समाप्त हो जांयगे। हां जहां वेद वैषम्य सम्भव नहीं वहां विरुद्ध विचार नहीं होते। अतः नारकी व देवों के यह सम्भव नहीं। यह सब विशेषता कर्मभूमि की ही है। यदि यहां के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावादिक

नियमित होते तो यहां भी ये सब बाते न होती। पर यहां की अनियमितता ही इन सब विरुद्धताओं की जनक है।

आगे अपने द्वारा किये गये ३ रे भाग का विचार करते हुए प्रो. सा. मुझसे पूछते है कि क्या ये ही २, ५ और ८ वें प्रकार के प्राणी योनिमती है सो इसका उत्तर 'हां' है। योनिमतियों की जो संख्या आदि बतलाई गई है वह इन्ही की है। अन्यत्र भी यही बात लागू समझना चाहिये। अर्थात् पर्याप्त मनुष्य इन तीन भगो मे छोड कर शेष भगों मे आ जाते है। पण्णवणा यह श्वेताम्बर परम्परा का प्रसिद्ध ग्रन्थ है और प्राचीन भी। वहा वेदो की अपेक्षा सख्या बतलाते हुए लिखा है।

सव्वत्थोवा जीवा पुरिसवेद्गा, इत्थिवेद्गा संखेज्जगुणा, अवेद्गा अणंतगुणा, नपुंसगवेद्गा अणंतगुणा, सवेयगा विसेसाहिया।

अर्थात् पुरुषवेदी जीव सबसे थोडे है। इनसे स्त्रीवेदी सख्यातगुणे हैं। अवेदी अणतगुणे है, (अवेदी नौवें गुणस्थान से आगे के सब जीव कहलाते है। इनमे सिद्ध भी सम्मिलित है। पर १४ वें गुणस्थान तक उनका द्रव्य वेद रहता है।) इनसे नपुसकवेदी अनन्तगुणे है। इनसे सवेदी अनन्तगुणे है।

इसकी टीका मे लिखा है—

सर्वस्तोकाः पुरुषवेदार्याः संज्ञिनामेव तिर्यङ्मनुष्याणां देवानां च पुरुषवेदभावात्। तेभ्य स्त्रीवेदाः संख्येयगुणाः। यतः उक्तं जीवाभिगमे-तिरिक्खजोणिणि-पुरिसेहितो तिरिक्खजोणिणी तिगुणाओ तिरूवाहियाओय। तहा मणुस्सइत्थीओ सत्तावीसगुणाओ सत्तावीसरूवुत्तराओ य। तहा देवपुरिसेहिंतो

देवित्थीओ बत्तीसगुणाओ बत्तीसरूवुत्तराओ य । इति ।
वृद्धाचार्यैरपि उक्तम् -इत्यादि ।

अर्थ—पुरुषवेदवाले सबसे थोड़े है, क्योंकि संज्ञी तिर्यंच, मनुष्य और देवों के ही पुरुषवेद होता है । इनसे स्त्रीवेदी संख्यातगुणे हैं, क्योंकि जीवाभिगम में कहा है कि तिर्यंचयोनिवाली स्त्रियां तीन अधिक तिगुनी है । तथा मनुष्य पुरुषों मे मनुष्य स्त्रियां सत्ताईस अधिक सत्ताईसगुणी है । तथा देव पुरुषों से देव-स्त्रियां बत्तीस-गुणी हैं । आदि ।

यहां मनुष्य स्त्रियों को सत्ताईसगुणा लिखा है सो इसमें सम्प्रदायभेद रहा है ।

इससे तीन बातों पर और प्रकाश पड़ता है ।

(१) जोणिणी शब्द का प्रयोग तिर्यंचों के लिये ही किया है । पूरा प्रयोग तिरिक्खजोणिणी इत्थी तिरिक्खजोणिणी पुरिस हुआ है । दिगम्बर सम्प्रदाय में भी ' जोणिणी ' शब्द का प्रयोग तिर्यंच स्त्रियों के लिये ही मिलता है । देखो षट्खण्डागम के सूत्र आदि । तत्वार्थ-सूत्र में भी ' तिर्यग्योनिज ' यह शब्द आया है । मालूम होता है षट्खण्ड आदि में तिर्यक्योनिनी स्त्री का जोणिणी संक्षिप्त रूप है । इससे योनिनी का जो योनिवाली यह अर्थ किया जाता है उसमे हेर फेर के लिये गुंजाइश हो जाती है ।

(२) पण्णवणा मे जो संख्या केवल पुरुषवेदी की कही है वही संख्या षट्खंडागम व गोम्मटसार आदि मे पुरुषवेदी और नपुं-सकवेदी पर्याप्तकोंकी कही है । यही सबब है वहां पज्जत्तमणुस या पज्जत्ततिरिक्ख ये शब्द रखे गये हैं । यह सम्प्रदायभेद भी विचारणीय है ।

(३) अवेदवालों में अनिवृत्तिकरण से आगे के जीव सम्मिलित हैं। उनके द्रव्यवेद के रहते हुए भी उन्हें अवेदी कहा है। यथा—

तेण परमवगदवेदा चेदि । १०९ । संतपरूवणा ।

इन उल्लेखों की रोशनी मे यदि प्रो० सा० गोम्मटसार में किये गये तिर्यंच और मनुष्यों के भेदों को देखेंगे तो स्पष्टतः वे यह स्वीकार कर लेंगे कि योनिनी से यहां भाव स्त्री का ही बोध होता है।

आगे प्रो० सा० ने मेरे पिछले उत्तर में उनकी ८ वीं शंका का उत्तर न मिलने की सूचना की है सो हो सकता है कि मैं उनकी शंका को ठीक तरह से हृदयंगम न कर सका होऊं। और इसलिये उसका पूरा खुलासा करने में असमर्थ रहा। पर इसके लिये प्रो०सा० को यह नहीं लिखना चाहिये कि 'सम्भव है यह मेरे ही दृष्टिदोष या अज्ञान का परिणाम हो।' मुझे उनके यह लिखने से दुख हुआ।

इसके बाद प्रो० सा० ने हमारे युक्तिक्षेत्रकी गवेषणा की है। इस गवेषणा को प्रो० सा० ने हमारी युक्तियों के अनुसार ३ भागों में विभक्त कर दिया है।

पहले भाग के ४ उपभाग है, दूसरे, और तीसरे भाग के भी चार, चार उपभाग है। इस प्रकार ये उपभाग बारह होते है।

मेरे सामने दो मार्ग हैं एक यह कि प्रश्नानुसार उत्तर दे दिया जाय और दूसरा यह कि कर्म की मर्यादाओं पर थोड़ा प्रकाश डाल दिया जाय। मेरे सब प्रश्नो के उत्तरों से प्रो० सा० को सन्तोष होगा ही ऐसा मैं नहीं मानता हूं। यदि मैं प्रो० सा० को कर्म की मर्यादाओं को हृदयंगम करा सका तो सम्भव है उनके

सब प्रश्नों का उत्तर सहज हो जायगा। इसलिये मैं पहले अपने दूसरे मार्ग पर ही चलने का प्रयत्न करता हूं।

जैन मतानुसार कर्म कोई विधाता नहीं है। अन्य निमित्तों के समान वह भी एक निमित्त है। कहीं कर्म के उदयानुसार निमित्त मिलते हैं और कहीं निमित्तानुसार कर्म का उदय होता है। तथा कहीं निमित्त और कर्मोदय में समानता के न मिलने पर विविधता आजाती है। यथा (१) कोई जीव उत्तम भोगभूमि में उत्पन्न हुआ तो वहाँ के द्रव्य, क्षेत्र, कालानुसार उसका शरीर सबसे बडा होगा, तीसरे दिन भूख लगेगी। अब यदि कोई प्रश्न करे कि औदारिक शरीर का उदय वहाँ भी है और यहाँ भी है। फिर क्या सबब है कि वहाँ सबसे बड़ा शरीर होता है और यहाँ कर्मभूमि में नहीं। तो इसका उत्तर कर्म शास्त्र से नहीं मिल सकेगा। यह हुआ निमित्तानुसार कर्म का उदय या कर्म का कार्य।

(२) उदयानुसार निमित्त का दृष्टान्त स्पष्ट ही है। मनुष्यायु आदि का उदय होने पर जीव को मनुष्य पर्याय के निमित्त मिल जाते है।

(३) एक आदमी के पास अटूट साधन है, पर उसका जीवन मूंग की दाल खाने मे बीतता है। उसके सुख के साधन तो है पर वह सुखी नहीं। एक आदमी ने परोपकार के लिये जीवन कष्ट में गुजारा। खाने की तकलीफ, बैठने की तकलीफ, यातनाओं की परम्परा ये सब हो रहे हैं, पर उसके जीवन में चिन्ता की रेखा भी नहीं, इतना ही नही वह निरन्तर प्रसन्न ही रहता है। इसके दुःख के साधन तो है पर वह दुखी नहीं। यह है निमित्त और

कर्मोदय में विषमता । इसका एक भीतरी उदाहरण और दिये देता हूँ । किसी के शरीर में कुछ विकृति हो गई पर उसे स्वयं उसका पता नहीं । विकृति से दुःख होना चाहिये । पर विकृति जन्य वेदना न होने से वह दुखी नहीं है किन्तु उसका सुख अपनी निश्चित धारा में गतिशील है । उसके शरीर की क्रिया दुःखरूप होते हुए भी उसके असाता का उदय न होकर साता का उदय है । यह भी निमित्त और कर्मोदय में विषमता है । पर यह तीसरा प्रकार कर्मभूमि में ही सम्भव है क्योंकि यहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अनियमित है। इसलिये यहाँ बाहरी और भीतरी कार्योंमें भी अनियमितता देखी जाती है । भोगभूमि, स्वर्ग और नरक में ये द्रव्यादिक नियमित है। अतः वहाँ सब में नियमितता और समानता आ जाती है । यद्यपि इसका गहरा विवेचन बहुत है पर यहाँ संकेत मात्र किया है । यदि हम कर्म के फला-फल को उस कसौटी पर कस कर देखे तो हमें द्रव्यवेद और भाववेद की विविधता में शंका न होगी ।

अब प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न करता हूँ—

(१) क—द्रव्यवेद और भाववेद में कार्य-कारण भाव नहीं है । इसका इतना ही अभिप्राय है कि भाववेद द्रव्यवेद का अव्यभिचारी कारण नहीं । अन्य सम्बन्ध के विषय मे इतना कहना ही पर्याप्त है कि कषायादिक का शरीर से जो सम्बन्ध है वही भाववेद का मानना चाहिये । देवगति और भोगभूमि मे वहाँ के नियमित द्रव्यादिक इनमें साम्यता पैदा करते है । सो बात कर्मभूमि मे नहीं है ।

(ख) मेहन और योनि द्रव्य पुरुष और द्रव्य स्त्री के चिन्ह हैं। इसलिये उन्हें पुरुषलिंग और स्त्रीलिंग माना जाय। क्योंकि विशेषावश्यक भाष्य में पुरुष द्रव्यपुरुष, अभिलाषपुरुष, चिन्हपुरुष, वेदपुरुष, अर्थपुरुष आदि अनेक प्रकार के बतलाये हैं। इसी प्रकार स्त्रियां भी अनेक प्रकार की बतलाई हैं। उनमें से यह मेहन और योनि आदि चिन्ह, चिन्हपुरुष के माने हैं। यहाँ इन्हीं को हमने द्रव्य-पुरुष और द्रव्यस्त्री कहा है।

(ग) शरीर नामकर्म और आंगोपांग नाम कर्म के उत्तर भेदों से पुरुष और स्त्रियों के शरीर बनते है और उन्हींसे गर्भधारण करने कराने की योग्यता आती है।

(घ) द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के सम्बन्ध का विचार हम पहले कर आये है। वैसी स्थिति द्रव्यवेद और भाववेद में नहीं है। अतः द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय का दृष्टान्त द्रव्यवेद और भाववेद पर लागू नहीं होता।

२—(ङ) भावकर्म का उदय क्या, वास्तव मे मैं इसे नहीं समझा। सम्भव है, इससे प्रोफेसर साहब कर्म का उदय ही कहना चाहते होंगे। किन्तु लब्धि, निर्वृति, उपकरण और उपयोग के अनुसार कर्म का उदय होता है ऐसा भी मान लिया जाय तो भी प्रोफेसर साहब क्या बतलाना चाहते हैं, यह सब अस्पष्ट बना रहता है। यह कर्म के उदय का क्रम मैंने कहीं पढ़ा नहीं है। सम्भव है उनका मतलब यह है कि पर्याप्त अवस्था में ही कर्म अपना काम करेगा, उसके पहले नहीं। उसके पहले तो अव्यक्त सत्त्व मानना ठीक होगा। इस पर मेरा इतना ही निवेदन है कि यह सब कथन कार्मिको को चिन्तनीय

है। प्रकाश दृश्यमान फल है, अदृश्य फल तो बिजली ही है जो बल्ब जोड़ने के पहले से मौजूद रहता है। यही बात प्रकृत में है। कर्म दो प्रकार के है जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी। जीवविपाकी कर्मो का काम जीव में संस्कार पैदा करना है। शरीरविपाकी का काम शरीर बनाना है। अनन्तर व संस्कार बाह्य निमित्त के मिलने पर अभिव्यक्त हो सकते है। यदि अभिव्यक्त नहीं होरहे हैं तो भी वे हैं ही।

(च) ङ—में इसका खुलासा हो गया है।

(छ) लिंगभेद के कारण अनेक हैं यथा—आँगोपांग नामकर्म, द्रव्यादि, वेदनोकषाय व निर्माण आदि। इनमें से जहाँ जितने अनुकूल कारण मिलते है उनसे लिंगभेद उत्पन्न हो जाता है। औदारिक आदि वर्गणाओ के निमित्त से जो शरीर जिस जाति का बनता है उसके अनुकूल उसके आंगोपांग बन जाते है जो कर्मसमुदाय का कार्य है एक का नही।

(ज) स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी जीव अपर्याप्त नही होते, ऐसा नियम है। अतः योनिमतियो की संख्या मे अपर्याप्तको की संख्या सम्मिलित नहीं होती। अतः जीवकाण्ड में भी यह आपत्ति नहीं आती। अपर्याप्त जीव वे कहलाते है जिनके अपर्याप्त नामकर्म का ही उदय होता। परन्तु स्त्रीवेद और पुरुषवेद के साथ पर्याप्त नामकर्म का ही उदय होता है। हाँ ऐसे जीव शरीरपर्याप्ति के पहले जो अपर्याप्त कहे जाते है सो निर्वृत्ति की अपेक्षा जानना चाहिये, तत्वतः वे पर्याप्त ही है।

३–(झ) त्रिलोकसार आदि में देव देवियों के उत्पत्ति स्थान

जुदे- जुदे बतलाये है। देख लीजिये—उत्पत्ति स्थान जुदे मानने का ही यह अर्थ है कि वहाँ अपने अपने शरीर के योग्य उपादान रहते हैं। माना कि सब जगह सब तरह की वर्गणाएँ भरी हुई हैं पर अपने अपने उपादानों के अनुसार ही उन वर्गणाओ का ग्रहण होता है। यह एक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है जो अपरिहार्य है। यह बात संमूर्च्छन और नारकियों के सम्बन्ध मे भी समझनी चाहिये। उनके उपादान ही ऐसे रहते है जिससे इनका शरीर नपुन्सक ही बनता है।

(ञ) स्त्रीवेद और पुरुषवेद सहकृत आनुपूर्वी नामकर्म जीव को देवी और देवों के उत्पत्तिस्थान में ले जाता है। पर इस विधान से कर्मभूमि मे बाधा नहीं आती। क्योंकि यहां के उत्पत्तिस्थान और उपादान दोनो अनियमित है।

(ट) हम लिख चुके है कि पुद्गलवर्गणाएं उपादान के अनुसार काम करती है। गेहूँ का जीव जब गेहूँ उपादान मे पहुंचता है तब अन्य पुद्गल वर्गणाएं उस रूप से काम करने लगती है। अन्यत्र भी यही बात है। जीवगत भाव निमित्तानुसार होने वाले तारतम्य मे बाधा नहीं ला सकता। खेत में अच्छा बीज बोया, पौधा भी अच्छा निकला, बाल भी अच्छी आई पर पाला पड़ गया, गेहूँ पतला हो गया। इस नैमित्तिक परिवर्तन को कौन रोक सकता है। कर्मभूमि में और अन्यत्र यही विशेषता है। सूर्य की गति बंधी हुई है उसका उदयास्त उसी क्रम से होता आया, होता है और होता रहेगा। पर हम आप कभी खाते हैं कभी भूख ही नहीं लगती। कभी सोते हैं कभी नींद ही नहीं आती। इस प्रकार इन दो

दृष्टान्तों से हीं भोगभूमि और कर्मभूमि का भेद समझ लेना चाहिये। पर इन सब विशेषताओं का जनक कर्म नहीं है। आखिर कर्म भी तो निमित्त ही है वह भी दूसरे की अपेक्षा करता है और तदनुसार उदय में आता है। वह इतना बलवान नहीं कि सबको बदल दे।

(ठ) यदि कोई यह पूछे कि जब वहां जिन्दगी भर संभोग चलता है तो मरण से नौ महिने पहले ही गर्भ क्यों रहता है और गर्भ में एक स्त्री और एक पुरुष युगल ही क्यो आते है और युगल ही क्यों उत्पन्न होते है। तो इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया जाय। यही कहा जायगा कि वहां के द्रव्यक्षेत्र आदि की यही विशेषता है। इसी प्रकार (ठ) नम्बर के प्रश्न के उत्तर में समझना चाहिये। दूसरे केवल वर्गणाओं से शरीर नहीं बनता, उपादान पिंड से बनता है। यहाँ उपादान पिंड दो हैं कर्मभूमि में यह बात नहीं है। इसे प्रो०सा० भी जानते हैं। इन प्रश्नों के बाद प्रोफेसर साहब ने मेरी कुछ बातो का उत्तर दिया है। उनके विषय में लिखने से पिष्टपेषण ही होता है अतः उन सबको छोड़ता हूँ।

मेरी पाठकों से प्रार्थना है कि वे इस लेख को पढ़ते समय प्रोफेसर साहब के लेख को अपने सामने अवश्य रखले। इससे उन्हे विषय के समझने में सुविधा होगी। मैंने सर्वत्र प्रोफेसर साहब की शंकाओं का उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि इससे लेख का कलेवर बहुत बढ़ जाता। केवल उत्तर मात्र दे दिया है।

६

वेदविचार का उपसंहार

(लेखक—प्रोफेसर हीरालालजी, नागपुर)

श्रीयुक्त पं. फूलचन्दजी शास्त्रीने जैनसंदेश ता. १४ अक्टूबर १९४३ ई. के अंकमे जो 'जीवकाण्डके टीकाकारों की भूल' शीर्षक लेख प्रकट किया था, उसपर तबसे जैन संदेशके भिन्न भिन्न अंकोमे मेरे दो लेख और पंडितजीके भी दो लेख उत्तर प्रत्युत्तर रूपसे प्रकाशित हो चुके है। अन्तिम लेखमें पडितजीने लिखा है—

"मैं अपने समय और शक्तिको देखते हुए भी प्रो० सा० के द्वारा उपस्थित की गई सब बातो पर विचार तो करूंगा, किन्तु सम्भव है कुछ बातों का उनकी इच्छानुसार संतोषजनक उत्तर न भी दिया जा सके। आशा है, इसके लिये प्रो० सा० व पाठक मुझे क्षमा करेंगे।"

आगे एक शंकाके उत्तरमें उन्होने कहा है—

"मै स्वयं इस मान्यताकी निश्चितिका अनुसन्धान कर रहा हूं। पर अभी मै किसी एक निर्णय पर नहीं पहुंचा, इसलिये कुछ भी लिखना असामयिक होगा।"

आगे फिर एक शंका के उत्तरमें लिखा है—

"इसके लिये प्रो० सा० को प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं है। वे मेरे बड़े है। व्यक्तिशः उनके प्रति मेरा बड़ा आदर है। उनका संकेत ही मेरे लिये पर्याप्त है। फिर भी इस कामको

सर्वांग व्यवस्थित करनेमें साधन सामग्रीकी आवश्यकता पड़ सकती है। कोई संस्था या व्यक्ति चाहे तो यथासम्भव इस काम को किया जा सकता है। वास्तव में मेरे सामने इस विषय के अभी कई ऐसे महत्त्व के प्रश्न है जिनका निर्णय करना कठिन हो रहा है। अनुसन्धान की आवश्यकता है, पर उसके लिये श्रम और समय की जरूरत है।"

पंडितजी के इन थोड़े से वाक्यो पर से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन सिद्धान्त के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय का यह शास्त्रार्थ हम दोनो के बीच किस सौजन्य, सद्भाव और विवेक के साथ चला। इसमें हम लोगों का दृष्टिबिन्दु सदैव सत्यार्थ-निर्णय की ओर रहा है, न कि अन्तिम हार-जीत पर। इसी कारण हम दोनो अपने को उस कटुता और कलुषता से बचा सके हैं जो बहुधा शास्त्रार्थ में उत्पन्न हो जाया करती है। इस सफलता की मुख्य कुंजी यह रही है कि हम लोगों ने इस चर्चा में वैयक्तिक आक्षेपो व एक दूसरे की नेकनियती पर अविश्वात्मक वचनों को सर्वथा नहीं आने दिया। यदि प्रमादवश एक ओर से कहीं कोई ऐसी बात आ भी गई हो, तो दूसरे ने उसकी उपेक्षा करके उसकी वंशवेलि को वहीं समाप्त कर दिया। इस चर्चा से किसी प्रकार का बाह्य क्षोभ भी उत्पन्न नहीं हो पाया, क्योंकि हम दोनों ने एवं जैन सन्देश के सुयोग्य सम्पादक और प्रकाशक विद्वानों ने उन मर्यादाओं का कभी उल्लंघन नहीं किया जिन्हें मैने अपने प्रथम लेख में ही निर्धारित कर देना आवश्यक समझा था। यदि इस प्रकार के सद्भाव और सहयोग का अनुकरण किया जाय तो गंभीर से

गंभीर विषयो पर भी बिना किसी राग-द्वेष व क्षोभ के शास्त्रार्थ किया जा सकता है और सत्यार्थ-निर्णय हो सकता है ।

जिन्होंने आदि से अभी तक इस चर्चापर ध्यान दिया है वे जान लेंगे कि हम लोग अब इस चर्चा की उस मंजिल पर पहुंच चुके है जहा इसका उपसंहार किया जा सकता है । पंडितजी ने जो मेरी इच्छा के अनुसार अपने उत्तरों के असतोषजनक होने की सम्भावना प्रकट की है, उसकी जगह मेरी इच्छा का उल्लेख न कर यदि वे अपने ही आत्मगत सतोष या असंतोष की बात कहते तो और भी अच्छा होता । पर यथार्थतः बात तो एक ही है । अतएव अब मै अपनी उन्ही शंकाओ के अनुसार इस चर्चा का उपसंहार करना उचित समझता हू जिन्हें मैने अपने प्रथम लेख में प्रकट किया था ।

१ मेरी प्रथम शंका योनिनी शब्द के संबंध की थी। योनि शब्द का अर्थ गोम्मटसारकारने स्वय द्रव्यवेद सुस्पष्टता के साथ बतलाया है । सब टीकाकारों ने भी योनिनी का अर्थ द्रव्यस्त्री स्वीकार किया है । इस संज्ञाकी निरुक्ति, प्रसिद्धि और व्यवहार भी द्रव्यस्त्री के अर्थ मे है, इसमें कोई मतभेद नही है । पर्याप्त नपुंसक का अलग भेद न किया जाना भी इसी अर्थ का द्योतक है, क्योंकि उसका अन्तर्भाव द्रव्यपुरुष व द्रव्यस्त्रियों में ही हो जाता है । यही मेरी छठवीं शंका का विषय था जिसपर विचार कर पडितजी ने लिखा कि "यह एक ऐसा प्रश्न है जो जी को लगता है और उल्लिखित समस्त प्रमाणो के रहते हुए भी मनुष्य को चक्कर में डाल देता है ।" किन्तु यह बात सत्य है कि इस अर्थ का मेल कुछ साम्प्रदायिक मान्यताओं

के साथ नहीं बैठता और इसीलिये यहां द्रव्य को छोड़कर केवल भाव वेद का अर्थ ग्रहण करने की आवश्यकता पड़ती है। पर उससे एक बड़ी विषम परिस्थिति उत्पन्न होती है। द्रव्यवेद इष्ट नहीं है इसीलिये भाववेद मात्र ग्रहण करना पड़ता है। किन्तु सब भाव-वेदों की वहां व्यवस्था उपलब्ध नहीं है इसलिये कहना पड़ता है कि वहां "वेदकी मुख्यता से भेद नहीं किये गये"। इस परस्पर विरोध के अतिरिक्त यह भी कल्पना करना पड़ती है कि जीव-समास प्रकरण और मार्गणा प्रकरण दो पृथक् पृथक् रचनाएँ है, अतएव उनमे से एक में बांधी गई व्यवस्थाओं का दूसरे मे पालन नहीं किया गया, एवं गोम्मटसार में ऐसे अनेक व्यत्यय पाये जाते हैं। पर यदि यह बात स्वीकार की जाती है तो गोम्मटसार की सारी प्रामाणिकता ही विचारणीय हो जाती है। इसके अतिरिक्त वह परिस्थिति भी विद्यमान है जिसका उल्लेख मेरी आठवीं शंका में मिलेगा।

२ मेरी दूसरी, तीसरी और चौथी शका का निवारण पंडितजी के इस नियम को स्वीकार कर लेने से हो जाता है कि "एक पर्याय में एक ही वेद का उदय रहता है।" किन्तु इस पर से यह शंका उत्पन्न होती है कि यदि भाववेद किसी द्रव्यवेद से बंधा नहीं है, तो कषायादि के समान वह एक पर्याय में बदल क्यों नहीं सकता? इस पर पंडितजी का कहना है कि वे इस संबंध में अभी तक किसी एक निर्णय पर नहीं पहुंच सके।

३ मेरी पांचवीं शंका यह थी कि यदि गति मार्गणा और वेद मार्गणा इन दोनों में ही केवल भाववेद की विवक्षा ग्रहण की गई तो फिर द्रव्यवेद का विचार कहां किया गया और उसकी

शास्त्रीय व्यवस्था कहासे समझी जाय ? इस पर पंडितजी का उत्तर था कि " शास्त्र में द्रव्यवेद की कोई स्वतंत्र व्यवस्था संकलित नहीं की गई; स्थान स्थान पर जो फुटकर सूचनाएं मिलती हैं उन्हीं के आधार से द्रव्यवेद का निश्चय करना पड़ता है । " मैंने उन फुटकर सूचनाओं के संकलन की पंडितजी से प्रार्थना की थी जिसके उत्तर में उन्हो ने कहा है कि " वास्तव में मेरे सामने इस विषय के अभी कई ऐसे महत्त्व के प्रश्न हैं जिन का निर्णय करना कठिन हो रहा है; अनुसधान की आवश्यकता है । "

४ छठवीं शंका का उल्लेख ऊपर १ में किया जा चुका है। मेरी सातवीं शका थी कि यदि योनिमती का अर्थ भाववेदी ही स्वीकार कर लिया जाय तो भी उससे द्रव्यस्त्री का ही ग्रहण होगा, क्योकि द्रव्यस्त्री को छोड़ अन्यत्र स्त्रीवेदोदय नहीं पाया जा सकता, अर्थात् वेदवैषम्य सिद्ध नहीं होता । इस विषय की विस्तार से चर्चा दो विभागो में हुई— एक तो आगम-परम्परा के अनुसन्धान से और दूसरे आगम की मर्यादाओं के भीतर युक्ति और तर्क से । वेदवैषम्य की आगम-परम्परा पंडितजी ने गोम्मटसार तक बतलाई । मै स्वयं उसे प्राचीनता मे अकलंक व पूज्यपाद तक ले गया । किन्तु उनसे पूर्व वेदवैषम्य की मान्यता दिगम्बर शास्त्रो मे नही पाई गई । युक्ति और तर्क के क्षेत्र मे मुख्य विषय यह उपस्थित हुआ कि भाव और द्रव्य वेद मे परस्पर सम्बन्ध क्या है, तथा द्रव्यवेदसम्बन्धी लिंगभेद किन कारणों से उत्पन्न होते है ? खूब ऊहापोह के पश्चात् लिंगभेदों की उत्पत्ति के कारण पंडितजी ने इस प्रकार बतलाये हैं—- " आगोपांग नामकर्म, द्रव्यादि, वेद-

नोकषाय व निर्माण आदि। इनमेंसे जहां जितने अनुकूल कारण मिलते है उनसे लिंगभेद उत्पन्न होता है। औदारिक आदि वर्गणाओं के निमित्त से जो शरीर जिस जाति का बनता है उसके अनुकूल उसके अंगोपांग बन जाते है, जो कर्मसमुदाय का कार्य है, एक का नहीं।"

इन कारणो का पूर्वापर सम्बन्ध भी पडितजी के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि— "अंगोपाग का उदय नवीन शरीर ग्रहण के पहले समय से होता है, और वेदनोकषाय का उदय नवीन भव ग्रहणके पहले समयसे।" अर्थात् किसी भी गतिमें जानेपर प्रथम समयसे ही जीवके वेदनोकषायका उदय होगा। जब वह विग्रह गति समाप्त कर शरीर ग्रहण करेगा तभीसे अंगोपांग नामकर्म व निर्माणादि कर्म उदयमें आवेंगे और जीवकी गति-मति अनुसार उसके शरीर व अंगोपांगोंकी रचना करेंगे। इन कर्मों का परस्पर सम्बध और भी स्पष्टतासे समझने के लिये एक गृहस्वामी का दृष्टान्त ले सकते है। पहले एक व्यक्तिको घर बनाने का भाव उत्पन्न हुआ। तदनुसार वह मिट्टी पत्थर आदि द्रव्यों के ठेकेदार से सम्बन्ध जुटाता है और एक कुशल कारीगर की सहायता से अपनी आवश्यकतानुसार कोठे कोठरियों आदि सहित गृह निर्माण कराता है। इसी प्रकार जीव भी नवीन भव ग्रहण करने पर अपने नाना औदयिक और क्षायोपशमिक भावोंके अनुसार शरीररूपी भवन निर्माण कराता है। इस कार्यमें जीवकी गति अनुसार शरीर नामकर्म औदरिक या वैक्रियिक आदि पुद्गलवर्गणाएँ जुटाते हैं तथा जीवके ज्ञानावरणीयादि विशेष विशेष क्षयोपशमानुसार एवं वेदनोकषायके उदयानुसार अंगो-

पांग नाम कर्म द्रव्येन्द्रियो व द्रव्यवेदों की रचना के लिये औदारिकादि पुद्गलवर्गणाएं प्रस्तुत करता है और जीवकी गति, जाति व उपजातिके अनुसार निर्माण नामकर्म रूपी कुशल कारीगर उचित आकार और प्रमाण से भिन्न भिन्न अवयवोकी रचना करता है। कहना न होगा कि उस शरीररूपी भवन के प्रत्येक भाग की दृढ़ता, घुटाई आदिका कार्य बधन संघातादि नामकर्म करते हैं। अतएव इस व्यवस्थामें यह नहीं हो सकता कि स्वामीका भाव कुछ हो और कारीगर बनादे कुछ और। अतएव स्वय पडितजी द्वारा स्वीकृत कारणोसे भी द्रव्य और भाव वेदमें वैषम्य उत्पन्न होना संभव नहीं है।

५. मेरी आठवीं शका यह थी कि यदि वेदवैषम्य स्वीकार भी कर लिया जाय, तो उसपर से व्यवस्था यह निकलेगी कि पुरुष-लिंगी स्त्रीवेदी जीवोंका अन्तर्भाव योनिमतियोंमें और स्त्रीलिंगी पुरुष जीवोंका अन्तर्भाव पर्याप्त तिर्यंचों व मनुष्योंमें किया गया है। क्या यही व्यवस्था इष्ट है या अन्य किसी प्रकार? इस शंकाका पंडितजी ने कोई उत्तर ही नहीं दिया। जब मेरे द्वारा उनका ध्यान उस प्रश्न पर विशेषरूपसे आकर्षित किया गया तब उन्होंने केवल इतना ही लिखकर उसे छोड़ दिया कि " प्रो० सा० ने मेरे पिछले उत्तरमें उनकी आठवीं शंकाका उत्तर न मिलने की सूचना की है, सो हो सकता है कि मैं उनकी शंकाको ठीक तरहसे हृदयंगम न कर सका होऊं और इस लिये उसका पूरा खुलासा करनेमें असमर्थ रहा। " पडितजी की इस सम्बन्धमे असमर्थता का कारण स्पष्ट है। जिस मान्यताके निर्वाह के लिये द्रव्यपुरुष भावस्त्री जीवका योनिमतियोंमें समावेश करना आवश्यक है उसीको द्रव्यस्त्री भावपुरुषका पर्याप्त

मनुष्यमें अन्तर्भाव अनिष्टकारी है। यह प्रसङ्ग ऐसा अटपटा है कि उपेक्षाके सिवाय अभी तक उसका कोई समाधान ही प्रस्तुत नहीं किया गया।

इस प्रकार तत्त्वार्थनिर्णयके एक प्रयत्नका यह प्रकरण समाप्त होता है। अब जो भी विद्वान् उसे आगे बढ़ाना चाहें वे अभी तकके शास्त्रार्थमें चर्चित मुद्दोंपर ध्यान देकर यहां प्रस्तुत किये गये शेष प्रश्नोंके अनुसार विचार करनेकी कृपा करें। (जैन सन्देश, भाग ८, संख्या १८ ता. २८ सितम्बर १९४४).

७

जीवकाण्ड के टीकाकारों की भूल

मेरा अन्तिम वक्तव्य

(लेखक—पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, बनारस)

मैने जैन सन्देश के ता० १४ जून १९४३ के अङ्क में 'जीवकाण्ड के टीकाकारो की भूल' शीर्षक एक लेख लिखा था। उसपर श्रीमान् प्रो० हीरालालजी ने 'क्या जीवकाण्ड के टीकाकारो ने सचमुच भूल की है' शीर्षक लेख द्वारा मेरे लेख पर आठ प्रश्न उपस्थित किये थे। जिनका मैने समुचित उत्तर दे दिया था। इसके बाद प्रोफेसर साहब ने पुनः शंकाएँ उपस्थित कीं और उनका भी उत्तर दे दिया गया। यह सब सामग्री जैन सन्देश में प्रकाशित हुई है। अब की बार प्रो० साहब ने हमारे उत्तरों पर विचार न करके 'वेद विचार का उपसंहार' नाम का एक लेख लिखा है। यह लेख

भी जैन सन्देश के २८ सितम्बर सन् १९४४ के अंक में प्रकाशित हुआ है। वैसे तो मुझे इस लेख पर कुछ भी विचार करने की इच्छा न थी पर उन्होंने इस लेख के उत्तरार्ध में ऐसी शैली को अपनाया है जिससे बाधित होकर ही मुझे लेखनी का सहारा लेना पड़ा है। इसके लिये प्रोफेसर साहब मुझे क्षमा करेंगे।

वास्तव में लेख का प्रारम्भ मैंने किया था इसलिये उपसंहार मुझे करना चाहिये था। मुझे यह देखना था कि प्रोफेसर साहब ने जो शंकाएँ उपस्थित की हैं उनसे मुझे अपने प्रथम लेख में लिखे गये आधारों में संशोधन करने की गुंजाइश है या नहीं। पर हुआ यह कि उन्होंने मेरे सब उत्तरों पर तो विचार किया नहीं, और ऐसा लेख लिख डाला जिससे यह मालूम हो कि प्रो० साहब की शंकाओं का मैं समुचित उत्तर न दे सका।

यद्यपि कोई भी अपने लिखने लिखाने में स्वतन्त्र है यह सही है। पर वे इतना सौजन्य तो दिखा सकते थे कि मेरे कुछ गर्भितार्थ वाक्यों का विपरीत दिशा में उपयोग न करते।

बहुत कुछ सोच विचार के बाद मैंने इस लेख को तीन भागों में बांटने का विचार किया है। पहले भाग में वे वाक्य और उनकी पृष्ठभूमि रहेगी जिनके आधार से प्रोफेसर साहब ने पुनः अपनी शंकाएँ खड़ी करने का प्रयत्न किया है, और दूसरे विद्वानों को विचार के लिये आमंत्रण दिया है। दूसरे भाग में मेरे और प्रोफेसर साहब के मौलिक दृष्टि भेद और उसके कारण पर प्रकाश डाला जायगा। तथा तीसरे भाग में उपसंहार करते हुए वस्तुस्थिति पर प्रकाश डाला जायगा।

भाग १

(१) लेख का प्रारम्भ करते हुये भूमिका में मैंने यह लिखा था कि "मैं अपने श्रम, समय और शक्ति को देखते हुये भी प्रोफेसर साहब के द्वारा उपस्थित की गई सब बातों पर विचार तो करूँगा किन्तु **सम्भव है कुछ बातों का उनकी इच्छानुसार सन्तोषजनक उत्तर न दिया जा सके।** आशा है इसके लिये पाठक व प्रोफेसर साहब मुझे क्षमा करेंगे।"

(२) प्रोफेसर साहब की यह शंका थी कि कषाय के समान एक पर्याय में वेद क्यों नहीं बदलता? वे 'क्यों' का उत्तर चाहते थे। इस पर मैंने लिखा था कि "मै स्वयं इस मान्यता की निश्चिति का अनुसन्धान कर रहा हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय में कुछ मान्यताभेद रहा है। पर **अभी मैं किसी एक निर्णय पर नहीं पहुँचा इसलिये पहले कुछ भी लिखना असामयिक होगा।**"

(३) प्रोफेसर साहब चाहते थे कि मैं द्रव्यवेद सम्बन्धी सूचनाओं का संकलन कर दूँ। यह प्रोफेसर साहब की सूचना थी, पर यह काम कितना गुरुतर है इस बात को सोच कर मैंने यह लिखा था कि "अब रही यह बात कि मैं उन तमाम सूचनाओं का संकलन कर दूँ जिनसे द्रव्यवेद और भाववेद की व्यवस्था पर प्रकाश पड़े। सो इसके लिये प्रो० साहब को प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं है। वे मेरे बड़े हैं; व्यक्तिशः उनके प्रति मेरा बड़ा आदर है। उनका संकेत ही मेरे लिये पर्याप्त है। फिर भी इस काम को सर्वाङ्ग व्यवस्थित करने में साधन सामग्री की आवश्यकता पड़ सकती है। कोई संस्था या व्यक्ति चाहे तो यथासम्भव इस

काम को किया जा सकता है। वास्तव में मेरे सामने इस विषय के अभी कई ऐसे महत्व के प्रश्न हैं जिनका निर्णय करना कठिन हो रहा है। अनुसन्धान की आवश्यकता है, पर उसके लिये श्रम और समय की जरूरत है।"

ये मेरे उद्गार हैं जिनसे प्रोफेसर साहब अपने इष्टार्थ की सिद्धि करना चाहते हैं। अब मैं क्रम से इन उद्गारों की पृष्ठभूमि का उल्लेख किये देता हूँ।

१—नम्बर १ के उद्गार सौजन्य और नम्रता के सूचक हैं। मेरे इन वाक्यो पर बाहर के कुछ लोगो ने आपत्ति भी की थी। उनका कहना रहा कि जब आप सभी बातों का सयुक्तिक और साधार उत्तर दे रहे है, तब आपको इन वाक्यों के लिखने की आवश्यकता क्यों हुई। आज मुझे उन भाइयों का ऐसा लिखना और कहना याद आ रहा है। ऐसा मालूम होता है कि प्रोफेसर साहब इन वाक्यों से यह अर्थ समझ बैठे हैं कि मेरा मत भी उन्हीं जैसा है, या जो कुछ मैं लिख रहा हूँ इससे मुझे स्वयं सन्तोष नहीं है। यदि प्रोफेसर साहब जो कारण मैंने दिये हैं उन पर ध्यान देने के बाद उन वाक्यों को पढ़ते तो सम्भव था उन्हें भ्रम न होता। मैंने स्पष्ट लिखा है कि "श्रम, समय और शक्ति को देखते हुये"। ये कारण ही शेष वाक्य के पूरक हैं। वैसे प्रोफेसर साहब की शंकाओं में ऐसी कोई बात नहीं है जिनका आगमिक मर्यादाओं में रहते हुये उत्तर न दिया जा सके, या उत्तर दिया न गया हो।

२—नम्बर २ के उद्गार लिखने की परिस्थिति निम्न रही—

एक भव में एक ही वेद रहता है, यह नियम दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में स्वीकार किया गया है। पंचसंग्रह मूल का भी यही भाव है। पर उसकी स्वोपज्ञ नाम वाली टीका में 'वेद और हास्य तथा रतियुगल को अन्तर्मुहूर्त में परिवर्तन कराना चाहिये' इस आशय का एक वाक्य आया है। जब मैं प्रोफेसर साहब के प्रश्नों का उत्तर लिख रहा था, तब मेरा ध्यान इस ओर गया। मेरी प्रकृति के अनुसार सहसा मैं इसका उपयोग भी नहीं कर सकता था, और न इसे भुला ही सकता था। यह उस समय मेरी मनोदशा थी। बस इस भाव को मैंने नम्बर २ के उद्‌गारों में व्यक्त किया है। फिर भी प्रोफेसर साहब को मैंने वह प्रशस्त मार्ग छोड़ दिया था जो उन्हीं उद्‌गारों के नीचे आये हुये निम्न वाक्यों से प्रकट है।

"फिर भी यह आगमिक विषय है, अतः **सभी बातों की युक्तियाँ होनी ही चाहिये, ऐसी कोई बात नहीं है।** इतना सच है कि कषायों के समान न दर्शनमोहनीय ही है, और न नोकषाय ही है। अतः कषायों को दृष्टान्त कोटि मे न लेना ठीक होगा।"

३—नम्बर ३ के उद्‌गारों के दो भाग हैं। **पहले भाग से तो प्रोफेसर साहब को मतलब नहीं।** अब रहा उत्तरार्ध जिससे प्रो० सा० अपना इष्ट अर्थ साधना चाहते हैं। सो मैं यहाँ यह जोर दे कर स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि **उन उद्‌गारों का प्रोफेसर साहब के प्रश्नों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा।** वे उद्‌गार व्यापक अर्थ में प्रकट किये गये थे। इसके लिये मै एक विषय प्रो० सा० व पाठकों के सामने रखे देता हूं जिससे मेरे लिखने के संयम की परीक्षा भी हो जायगी और भ्रम भी दूर हो जायगा।

दिगम्बर और श्वेताम्बर सभी मूल कार्मिक ग्रन्थों में एक स्वर से यह स्वीकार किया है कि सम्यग्दृष्टि जीव मर कर स्त्रियों में नहीं उत्पन्न होता। इसके लिये प्रमाणरूप से श्वेताम्बर परंपरा के कर्मप्रकृति और पंचसंग्रह तथा दिगम्बर परम्परा के षट्खण्डागम आदि ग्रन्थ प्रस्तुत किये जा सकते है। पर श्वेताम्बर टीकाकारों ने लिखा है कि ये बचन बहुलता की अपेक्षा से हैं, वैसे क्वचित् कदाचित् स्त्रीवेदियों में भी सम्यग्दृष्टि जीव मर कर उत्पन्न हो जाते हैं। वे इसके प्रमाण में मल्लिनाथ जिन का उदाहरण उपस्थित करते हैं। यद्यपि मूल ग्रन्थ स्त्रियों में सम्यग्दृष्टियों का मरकर उत्पन्न होना स्वीकार नहीं करते। इस बात की पुष्टि दोनों सम्प्रदायों के मूलग्रन्थों से होती है, और इससे स्त्रीमुक्ति के इतिहास के निर्णय करने में मदद भी मिलती है। तो भी मेरा यह साहस न हुआ कि मैं टीकाकारों को सहसा साम्प्रदायिक ठहरा दूँ। मेरी सदा इच्छा रहती है कि कम से कम उपलब्ध साहित्य के पौर्वापर्य्य और पूर्ण अवलोकन को तथा परम्परा से ध्वनित होने वाले अर्थों को ध्यान में रखकर ही हम किसी विषय का विधि-निषेध करें।

यद्यपि इसी प्रकार यहाँ मै अपने मन की दो चार बातें और भी निबद्ध कर सकता हूँ, पर मेरे ख्याल से यही एक बात पर्याप्त होगी।

यह तो उपर्युक्त तीन उद्‌गारों की पृष्ठभूमि हुई। इसी प्रकार अपनी शंकाओं को पुनर्जीवन देने का प्रयत्न करते हुये प्रोफेसर साहब ने मेरे एक वाक्य का और उपयोग करना चाहा है। वह वाक्य यह है—

"यह एक ऐसा प्रश्न है जो जी को लगता है, और उल्लिखित समस्त प्रमाणों के रहते हुये भी मनुष्य को चक्कर में डाल देता है।"

इस पर प्रोफेसर साहब के जैन सन्देश भाग ८ संख्या १–२ में टीका कर लेने के बाद मैंने जैन सन्देश भाग ८ संख्या ८ में बतलाया था कि 'यथा मनुष्यों के चार भेदों में सामान्य मनुष्यों को छोड़ दीजिये। अब शेष रहे तीन भेद सो पर्याप्त मनुष्यों में पुरुषवेदी आगये, योनिमतियों में स्त्रीवेदी आगये और लब्ध्यपर्याप्तकों में नपुंसकवेदी आ गये। अब केवल पर्याप्त नपुन्सक रह जाते है, सो उन्हें पर्याप्त मनुष्यों में सम्मिलित कर लिया गया है। यही सबब है कि पर्याप्त मनुष्य यह सामान्य संज्ञा रखी। यदि इससे द्रव्य पुरुषों का ग्रहण करना ही इष्ट था जैसा कि प्रोफेसर साहब मानते हैं, तो फिर वे बतलावें कि पर्याप्त मनुष्य संज्ञा रखने की क्या सार्थकता रही। उसके स्थान में जोणिणी के समान पुरुष यह संज्ञा रखनी थी। आपाततः इससे यह ध्वनित होता है कि पर्याप्त मनुष्य पद किसी एक का वाचक नहीं है। फिर कितने का वाचक है यह प्रश्न उठता है सो इसका यह समाधान है कि स्त्रीवेदियों की संख्या अलग बतलाई है, अतः यह शेष रहे पर्याप्त पुरुषवेदी और पर्याप्त नपुंसकवेदी इन दो का वाचक है।'

इस प्रकार साधार इतने विस्तृत वक्तव्य के रहते हुये भी प्रो० साहब अपनी छठी शंका को खड़ी ही समझते हैं और मेरे उपर्युक्त उद्गारों का उसके पक्ष में उपयोग करना चाहते हैं। पर उनका यह प्रयत्न प्रशंसनीय नहीं।

यह तो हुई मेरे उद्गारों की पृष्ठभूमि। अब मैं प्रतिज्ञानुसार दूसरे भाग पर प्रकाश डालता हूं।

भाग २—मेरे और प्रो॰ सा॰ के दृष्टिकोण में मौलिक भेद

अब हमें इसकी छानबीन करनी है कि वास्तव में हमारे और प्रो॰ सा॰ के दृष्टिकोण मे मौलिक अन्तर क्या है। वे जिस सरणी से विचार कर रहे है उसका आधार क्या, और मैं जिस सरणी से विचार कर रहा हूँ उसका आधार क्या?

बात यह है कि प्रो॰ सा॰ ने एक दृष्टि बना ली है कि जिसके जो भाव वेद होता है उसके वही द्रव्य वेद भी होता है, यद्यपि वे इसके पक्ष में कोई प्रमाण नहीं उपस्थित कर सके हैं। यह विषय आगम परम्परा से सम्बन्ध रखता है, इसलिये इसके लिये आगमिक प्रमाण ही होने चाहिये। वे केवल निरुक्ति और लौकिक व्यवहार के बल पर अपनी बात को प्रमाणित करना चाहते हैं। पहले-पहल मैंने दोनों सम्प्रदायो के मान्य ग्रन्थों के कुछ प्रमाण देकर यह बतलाया कि यह वेद-वैषम्य की मान्यता दोनों सम्प्रदायों में प्रचलित है। तो उन्होंने यह लिखा कि श्वेताम्बर ग्रन्थों में यह मान्यता बहुत पीछे आई है, और इसके लिये राजवार्तिक तथा सर्वार्थसिद्धि के उल्लेखों पर से दिगम्बर परम्परा मे ही इस मान्यता का उद्गम हुआ है, यह सिद्ध करने की चेष्टा की। जैसा कि उनके निम्न वाक्यों से प्रकट है—

'बृहत्कल्पसूत्र की सारी रचना पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि उसके कर्ता की दृष्टि शास्त्र चिन्तन की ओर उतनी

नहीं रही जितनी कि ग्रन्थ में सब कुछ समाविष्ट कर देने की ओर थी। ऐसा अनुमान होता है कि कर्ता को पता चला कि दिगम्बर ग्रन्थों में तीन वेदों के संयोगी भंग नौ बनाये गये हैं। उन्हें इतना सूक्ष्म विचार श्वेताम्बर ग्रन्थों में नहीं दिखाई दिया। यह उन्हें एक कमी मालूम हुई और बिना इस बात का विचार किये कि दिगम्बर ग्रन्थों में वेदवैषम्य क्यों स्वीकार करना पड़ा है, एवं नौ भंग किस प्रयोजन से बनाये गये है, तथा उनकी वह सार्थकता श्वेताम्बर ग्रन्थों में घटित होती है या नहीं, उन्होंने वह भंग अपने ग्रन्थ में भी समाविष्ट कर लिये।' (जैन सन्देश भाग ८ सं० ३)

किन्तु जब उन्हें श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण दिये गये तब उन्होंने यह लिखना चालू किया है कि यह साम्प्रदायिकता के कारण अपनी अपनी मान्यताओं की पुष्टि के लिये किया गया है, जैसा कि उनके निम्न वाक्यों से प्रकट है।

'किन्तु यह सत्य है कि इस अर्थ का मेल कुछ साम्प्रदायिक मान्यताओं के साथ नहीं बैठता और इसलिये यहां द्रव्यवेद को छोड़कर केवल भाव वेद का अर्थ ग्रहण करने की आवश्यकता पड़ती है।' (जैन संदेश भाग ८ सं० १८)

किन्तु वास्तवमें बात यह नहीं है। सच तो यह है कि एक तो 'जोणिणी' शब्द का अर्थ निरुक्तिसे द्रव्य स्त्री न होकर स्त्री होता है। और स्त्रियां अनेक प्रकार की हैं-द्रव्य स्त्री, अभिलाष स्त्री, चिन्ह स्त्री, वेद स्त्री और भाव स्त्री, जैसा कि सूत्रकृतांग की निम्न गाथा से प्रकट है—

दव्वाभिलाषचिंधे वेदे भावे य इत्थिणिक्खेवो।

इसी प्रकार पुरुष भी अनेक प्रकार के बतलाये हैं—द्रव्य पुरुष, अभिलाप पुरुष, चिन्ह पुरुष, वेद पुरुष, धर्म पुरुष, अर्थपुरुष, भोगपुरुष और भाव पुरुष, जैसा कि आवश्यक निर्युक्ति की निम्न गाथा से प्रकट है—

दव्वाभिलावचिंधे वेए धम्मत्थभोगभावे य ।
भावपुरिसो उ जीवो भावे पगयं तु भावेणं ॥

यहां विशेषावश्यक भाष्यकार ने भाव पुरुष का अर्थ करते हुए बतलाया है कि पुरुषवेद का अनुभव करने वाला तीन लिंग वाला जीव वेद पुरुष कहलाता है। यथा—

'वेयपुरिसो तिलिंगो कि पुरिसवेयाणुभूइकालम्मि ।

अब जहाँ जो अर्थ विवक्षित होता है वहां वह लिया जाता है। मैने यह अर्थ प्रो० सा० को नहीं सुझाया था यह बात नहीं है। सर्व प्रथम जोणिणीको जो चार निक्षेपों में बांटा था उसका यही भाव था। पर मालूम होता है कि उनका ख्याल है कि गति में जब द्रव्य का ग्रहण है तो उसके भेद जो स्त्री पुरुष आदि हैं उनमें भी द्रव्य का ही ग्रहण होना चाहिये। पर वे गति के शब्द के आगमिक अर्थ को देखें। आगम में गति का अर्थ गति नामक नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुई जीव की पर्याय लिया है। यह बात षट्खण्डागम, तत्त्वार्थसूत्र, कर्मप्रकृति आदि सभी आगमिक ग्रंथों से सिद्ध है, जिसका अन्तर्भाव भाव निक्षेप में होता है द्रव्य निक्षेप में नहीं। अब जब इसके भेद लिये जाते है तो वे भी जीव के पर्याय रूप ही प्राप्त होंगे। यहां शरीर भेदों की गणना को अवकाश कहां। यही सबब है कि मार्गणाओं के विवेचन में भाव या पर्याय

को मुख्यता दी गई है। द्रव्यवेद का वहां प्रकरण ही नहीं है। इसलिये गति के भेद रूप स्त्री पुरुष आदि को भाववेद की अपेक्षा प्रतिपादन करना साम्प्रदायिक दृष्टि नहीं। किन्तु वास्तव में यह साम्प्रदायिक दृष्टि है कि किसी प्रकार उसे द्रव्यवेद सिद्ध किया जाय। साम्प्रदायिकता एक प्रकार की नहीं होती।

प्रो० सा० का ख्याल है कि साम्प्रदायिकताने वेदवैषम्य की मान्यता को जन्म दिया है। पर वास्तव में बात यह है कि वेदवैषम्यकी मान्यता पहले से थी उससे लाभ उठा कर साम्प्रदायिकता पनपी है। उसमें इतनी गुंजाइश है कि उसके बल पर जो व्यक्ति जहां जो अर्थ लेना चाहे वह अर्थ लिया जा सकता है। इसीलिये मैं बराबर यह लिखता आ रहा हूँ कि यदि प्रो० सा० इस सत्य को समझ लें तो उनके चिन्तन की दिशा ही बदल जाय। और वे अभी तक के अपने सारे प्रयत्न को गलत दिशा में हुआ समझ कर उससे विरत हो जांय।

प्रो० सा० की एक शिकायत है कि मूल ग्रंथों में ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे द्रव्यवेद और भाववेद का वैषम्य सिद्ध किया जा सके। इसके लिये मै प्रो० सा० का ध्यान षट्खण्डागम के इस सूत्र व उसकी टीका की ओर ले जाता हूँ। यथा—

'सामित्तेण उक्कस्सपदे आउअवेयणा कालदो उक्कस्सिया कस्स? अण्णदरस्स मणुस्सस्स वा पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स वा सण्णिस्स मिच्छाइट्ठिस्स वा सम्माइट्ठिस्स वा सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदस्स वा कम्मभूमिपडिभागस्स वा संखेज्ज-वासाउअस्स इत्थिवेदस्स वा पुरिसवेदस्स वा णवुंसयवेदस्स वा जलचरस्स वा थलचरस्स वा सागार जागार तप्पाओग्ग-

संकिलिट्ठस्स वा तप्पाओग्गविसुद्धस्स वा उक्कस्सियाए आबा-धाए जस्स तं देवणिरयाउअं पढमसमए बंधंतस्स आउअवेयणा कालदो उक्कस्सा।

इस सूत्र के द्वारा स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी तीनों प्रकार के जीवोंके देवायु और नरकायु का उत्कृष्ट बन्ध बतलाया है। इस पर टीका करते हुए वीरसेन स्वामी ने लिखा है कि यहां भाववेद लेना चाहिये, अन्यथा द्रव्य स्त्रियों के भी नरकायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध प्राप्त होगा। परन्तु द्रव्य स्त्री के नरकायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर 'आ पंचमा त्ति सीहा इत्थीओ जाति छट्ठिपुढवि त्ति' अर्थात् 'सिंह पांचवें नरक तक और स्त्रियां छठे नरक तक जाती है' इस सूत्रके साथ विरोध प्राप्त होता है। उसी प्रकार देवों की उत्कृष्ट आयु का भी द्रव्य स्त्रीवेद के साथ बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नियम से निर्ग्रन्थलिंगियों के होता है ऐसा सूत्र है। अब यदि द्रव्य स्त्रीके भी देवायुका उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध माना जाय तो इस सूत्र से विरोध आता है। यदि कहा जाय कि द्रव्य स्त्री और द्रव्य नपुंसक के वस्त्रादि का त्याग हो जायगा सो भी बात नहीं है क्योंकि छेदसूत्र में इसका निषेध किया है। यथा—

'देवणेरयिणं उक्कस्साउबन्धस्स तीहि वेदेहि विरोहो णत्थि त्ति जाणावणट्ठं इत्थिवेदस्स वा पुरिसवेदस्स वा णवुंसय-वेदस्स वा त्ति भणिदं। एत्थ भाववेदस्स गहणमण्णहा दव्वित्थि-वेदेण वि णेरइयाणमुक्कस्साउअस्स बंधप्पसंगादो। ण च तेण सहितस्स बंधो 'आ पंचमा त्ति सीहा इत्थीओ जाति छट्ठिपुढवि त्ति' एदेण सुत्तेण सह विरोहादो। ण च देवाणं उक्कसाउअं

दव्वित्थिवेदेण सह वज्झइ 'णियमा णिग्गंथलिंगेण' इति सुत्तेण सह विरोहादो। ण च दव्वित्थीणं णिग्गंथत्तमत्थि चेलादि-परिच्चाएण विणा तासिं भावणिग्गंथत्ताभावादो। ण च दव्वित्थि-णवुंसयवेदाणं चेलादिचागो अत्थि छेदसुत्तेण सह विरोहादो।

धवला.

इससे स्पष्ट है कि षट्खण्डागम सूत्र भी वेदवैषम्य को स्वीकार करते हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में पण्णवणा बहुत प्राचीन ग्रंथ माना जाता है उससे भी वेदवैषम्य की ही पुष्टि होती है। यथा—

'उक्कोसकालट्ठिइयण्णं भंते आउयकम्मं किं णेरइओ बंधति? गोयमा! नो णेरइओ बंधति तिरिक्खजोणिओ बंधति नो तिरिक्खजोणिणी बंधति। मणुस्सो वि बंधति मणुस्सी वि बंधति नो देवो बंधति नो देवी बंधति।

इससे स्पष्ट है कि उत्कृष्ट आयु कर्म का बन्ध मनुष्य और मनुष्यिनी दोनों करते है। अब देखना यह है कि यहाँ मनुष्यिनी से द्रव्य मनुष्य स्त्री का ग्रहण किया है या भाव मनुष्य स्त्री का।

इसी प्रज्ञापना में अन्यत्र बतलाया है कि स्त्री मर कर छठे नरक से आगे नहीं जाती। यथा—

'अहे सत्तमा पुढवी नेरइयाणं भंते कओहिंतो उव्व ज्जंति? गोयमा एवं चेव नवरं इत्थीहिंतो पडिसेहो कायव्वो।

आशय यह है कि सातवें नरक में वे ही जीव उत्पन्न होते हैं जो छठे नरक में उत्पन्न होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि स्त्रियां सातवें नरक मे नहीं उत्पन्न होतीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि षट्खण्डागम के कथन से प्रज्ञापना का कथन बराबर मिलता हुआ है। जो इस बात का द्योतक है कि प्रारम्भ से ही वेदवैषम्य को स्वीकार किया गया है। और प्रकरणानुसार उसका उपयोग हुआ है।

मेरा ख्याल है कि इससे प्रोफेसर साहब की दृष्टि मे मौलिक अन्तर क्या है इस पर तथा उसके कारणों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। साथ ही यह भी मालूम हो जाता है कि मेरा लिखना किस प्रकार सप्रमाण है। हमे आशा है कि इससे प्रोफेसर साहब को अपने विचारों में परिवर्तन करने में सहायता मिलेगी।

उपसंहार

मैंने अपना प्रारम्भ का लेख 'जीवकाण्ड के टीकाकारों की भूल' शीर्षक से लिखा था। उस समय मैंने साधारण प्रमाण देकर ही यह बतलाया था कि संख्या प्रकरण में स्त्री का द्रव्य स्त्री अर्थ करके टीकाकारों ने भूल की है। इसके बाद इसी प्रकरण को लेकर प्रोफेसर साहब और हमारे बीच बराबर लेखों द्वारा प्रश्नोत्तर चले। प्रो० साहब अपने प्रश्नों द्वारा यह बतलाना चाहते थे कि टीकाकारों की यह भूल नहीं है। किन्तु जैसा कि मेरे उत्तर में लिखे गये पूर्व लेखों से और इस लेख से यह स्पष्ट है कि प्रारम्भ मे मैने जो निर्णय किया था वह बराबर है। अभी तक ऐसी कोई बात नहीं मिली जिससे यह माना जा सके कि टीकाकारों की वह भूल नहीं है। फिर भी जिन विद्वानो को इस विषय मे किसी प्रकार की शंका हो, वे अपने विचारों को सप्रमाण दिखाने का प्रयत्न

करें। (जैन सन्देश भा. ८ अंक २१-२२, ता. २६ अक्टूबर व २ नवम्बर १९४४)।

८

वेद विचार सम्बन्धी शेष प्रश्न

(लेखक—प्रोफेसर हीरालालजी, नागपुर)

तारीख २८ सितम्बर १९४४ के जैन संदेश भाग ८ संख्या १८ मे प्रकाशित 'वेदविचार का उपसंहार' शीर्षक मेरे लेख पर 'मेरा अन्तिम वक्तव्य' शीर्षक प० फूलचन्द्र जी शास्त्री का लेख ता० २६ अक्टूबर व २ नवम्बर के अंकों में प्रकाशित हुआ है। इस लेख के आदि में पंडित जी ने यह शिकायत की है कि "वास्तव में लेख का प्रारम्भ मैंने किया था, इसलिये उपसंहार मुझे करना चाहिये था।" पंडित जी के इस अधिकार में मैंने कोई हस्तक्षेप नहीं किया। किन्तु एक तो लेख क्रमानुसार मुझे लिखना आवश्यक था, और दूसरे चूंकि पंडित जी के लेख पर शंका मैंने उठाई थी, अतएव ऊहापोह के पश्चात् यह प्रकट कर देना मेरा कर्तव्य था कि मेरी कितनी शंकाओ का समाधान हुआ और कितनी का नहीं हुआ। बस, यही मैंने अपने उस लेख में किया है और उसमें संक्षेपतः चर्चा का मथितार्थ दे देने का प्रयत्न किया है। मेरी जो शेष शंकाएं हैं उनका समुचित उत्तर यदि पंडित जी अपने किसी भी पूर्व लेख में दे चुके हैं तो उन्हें इतना ही बतला देना

चाहिये कि अमुक शंका का उत्तर अमुक रूप से वे अमुक स्थान पर दे चुके हैं।

पंडितजी ने अपने शेष लेख को तीन भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग में उन्होंने मेरे लेख के प्रारम्भिक अंश पर रोष प्रकट किया है जिसका मुझे खेद और आश्चर्य है। मैंने पंडित जी के सौजन्य सूचक वाक्यों को कहीं भी किसी बात के साधन-बाधन के लिये उद्धृत नहीं किया। उनको तो मैंने केवल हमारे उनके बीच सौजन्य प्रकट करने के लिये ही प्रस्तुत किया है, और इस बात पर जोर दिया है कि यदि इस प्रकार सौजन्य रखा जाय तो कोई भी तत्त्व चर्चा निरापद रूपसे की जा सकती है। उन वाक्यों को कहीं भी मैने अपनी शंकाओ का आधार नहीं बनाया। पर यदि उन वाक्यों के लिखने से पंडितजी को पश्चात्ताप हो रहा है तो मै पंडित जी से हार्दिक क्षमा याचना पूर्वक अपने लेख का उतना अंश वापिस लेता हूँ। उससे मेरी शेष शंकाओं की स्थिति मे कोई अन्तर नहीं पड़ता। तत्वचर्चा की जाती है ज्ञान और तज्जन्य आनन्द व सौजन्य की वृद्धि के लिये। पर यदि उससे कोई क्षोभ या कालुष्य उत्पन्न हो तो वह चर्चा ही निष्फल है।

पडित जी के लेख के अन्तिम भाग मे केवल थोड़े से उप-संहारात्मक वाक्य हैं। अतएव सैद्धान्तिक विचारणा के लिये रह जाता है उनके लेख का दूसरा भाग। यहां पंडित जी ने पहले सूत्रकृतांग की एक गाथा उद्धृत की है। पर यथार्थतः वह गाथांश सूत्रकृताग का नहीं, किन्तु उसकी निर्युक्ति का है। उसमें जो द्रव्यस्त्री, अभिलाष स्त्री, चिन्ह स्त्री, वेद स्त्री व भाव स्त्री रूप निक्षेप

बतलाये हैं उनसे वेदवैषम्य की स्वीकारता सिद्ध नहीं होती और न योनिनी का योनि रहित जीव से अभिप्राय सिद्ध होता। किन्तु निक्षेप के नियमानुसार केवल स्त्री-संज्ञक जीव का जितने दृष्टिकोणों व विशेषताओं से विचार किया जा सकता है उनका विश्लेषण है। यही अभिप्राय आवश्यक निर्युक्ति से उद्धृत पुरुष सम्बन्धी निक्षेपों का कथन करने वाली गाथा का है। यदि विशेषावश्यक भाष्यकार ने तीनो लिंगों से पुरुष वेद की अनुभूति की बात लिखी है तो वह भी उसी प्रकार विचारणीय है जिस प्रकार वेद वैषम्य सम्बन्धी अन्य उल्लेख। षट्खंडागम सूत्र में जो स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी जीवों के देवायु और नरकायु का उत्कृष्ट बंध बतलाया है, उसका, जहां तक मैं देख सका हूँ, षट्खंडागम सूत्रों की किसी भी अन्य प्ररूपणासे ऐसा विरोध नहीं आता जिसके कारण वेदवैषम्य स्वीकार करना पड़े। धवलाकार ने जिन 'आ पंचमी त्ति सीहा' व 'णियमा णिग्गंथलिंगेण' आदि दो गाथाओं के साथ मेल बैठाने के लिये वेदवैषम्य स्वीकार किया है, वे गाथाएं षट्खंडागम सूत्रों में नहीं हैं। जहा तक मै देख सका हूं वे गाथाए वट्टकेरिकृत मूलाचार में ही सबसे पहले पाई जाती हैं, अतएव उनके आधार से षट्खंडागम सूत्र में वेद वैषम्य की स्वीकृति कदापि नहीं मानी जा सकती। श्वेताम्बरीय पण्णवणा ग्रन्थ मे जो अलग अलग स्थलो पर मनुष्यनी द्वारा उत्कृष्ट आयुबंध व स्त्रियों के सप्तम पृथिवी में गमन के निषेध का कथन पाया जाता है वह उक्त दो भिन्न मान्यताओं के उल्लेख रूप ही है। इनमें से कौनसी मान्यता अधिक प्राचीन है इसके सम्बन्ध में प्रस्तुत उल्लेखों पर से तो यही

कहा जा सकता है कि षट्खंडागमसूत्रों में स्वीकृत मान्यता ही अधिक प्राचीन है, और दूसरी मान्यता पीछे की है। उन दोनों के बीच मेल बैठाने का जो प्रयत्न किया गया है वह कर्मसिद्धान्त सम्मत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि शरीर व अंगोपांग नामकर्मोदय का गति व जाति अनुसार जीवगत भावों की अपेक्षा से ही व्यापार करने का जो नियम बतलाया गया है (देखो षट्खं० १,९-१,२८ टीका) उसके कारण भाववेद से विरुद्ध द्रव्य वेद की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। इस व्यवस्था को समझने के लिये मैं पाठकों का ध्यान तत्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र १७-२० व उनकी टीकाओं एवं षट्-खंडागम सूत्र १, १, ३३ की धवला टीका में बतलाई हुई भाव और द्रव्य इन्द्रियो की व्यवस्था के अतिरिक्त तत्वार्थसूत्र २, ५२ की सर्वार्थसिद्धि टीका व गोम्मटसार जीवकांड गाथा २७१ की टीका की ओर आकर्षित करता हूं जहां विशदता से, बिना किसी भ्रान्ति की संभावना के, यह बतलाया गया है कि स्त्रीलिंग की उत्पत्ति में स्त्रीवेद, पुरुषलिंग की उत्पत्ति में पुरुष वेद, एवं नपुंसक-लिंग की उत्पत्ति में नपुंसक वेद नियत रूप से कारणीभूत होता है। और चूंकि वेदों के उदय के लिये उनके भिन्न भिन्न शरीर आवश्यक है जिनकी रचना एक भव में बदल नहीं सकती, इसी-लिये षट्खंडागम सूत्र १, १, १०७ की धवला टीका एवं अमित-गतिकृत पंचसंग्रह १, १९१ में स्पष्ट रूप से यह विधान किया गया है कि एक पर्याय में जन्म से लेकर मरण पर्यन्त अपरिवर्तन रूप से केवल एक ही वेद का उदय हो सकता है; कषायों के समान वेद अन्तर्मुहूर्त में बदल नहीं सकता। षट्खंडागम १, १, १०६

की टीका में चींटियों में नपुंसक वेद का उदय सिद्ध करने के लिये उनमें गर्भ के बिना अंडों की उत्पत्ति का संकेत करना पड़ा है, क्योंकि यदि उनके गर्भ का सद्भाव मान लिया गया तो स्त्रीवेद का उदय भी मानना ही पड़ेगा।

यही कर्म सिद्धान्त की सुसंघटित और मौलिक व्यवस्था है जिसकी ओर मैं पंडित जी का ध्यान प्रारम्भ से ही आकर्षित करने का प्रयत्न करता रहा हूं। यदि उनके और मेरे बीच दृष्टिकोण का कोई भेद है तो यही कि मै इस द्रव्यवेदोत्पत्ति सम्बन्धी कर्म-व्यवस्था पर ध्यान दे रहा हूँ, और पंडित जी द्रव्य वेद की उत्पत्ति में भाव वेद को कारण रूप से स्वीकार करके भी उस व्यवस्था की उपेक्षा कर रहे हैं। कृपाकर पंडित जी इस बात पर तो ध्यान दें कि भाव वेद रूप परिणामों को छोड़कर और कौन से कारण शरीरोत्पत्ति में ऐसे हो सकते हैं जिनसे शरीर के तीन अलग अलग द्रव्य वेद उत्पन्न हो जांय? शरीर व अंगोपांग नामकर्म के उदय से तो गति अनुसार केवल औदारिक, वैक्रियिक व आहारक रूप पुद्गल-वर्गणाएं मात्र प्राप्त होती हैं जो पुरुष व स्त्री रूप अवयव रचना में समान रूप से उपादान कारण मात्र हो सकती हैं। पर उन अवयवों के आकार, प्रमाण आदि की व्यवस्था तो गति व जाति अनुसार भाववेद सम्बन्धी जीव परिणामों के निमित्त से ही हो सकती है। यदि जीवगत भाव से निरपेक्ष पुद्गलवर्गणाओं में उनके पारिणामिक संयोग-वियोग रूप परिणमन से ही स्त्री पुरुषादि शरीर रचना की शक्ति होती तो प्रकृति में हमें नाना प्रकार के पत्थर चट्टानों आदि स्कंधों के समान निर्जीव पुरुष स्त्री शरीर भी जंगलों और पर्वतों में उत्पन्न

होकर यत्र तत्र पड़े दिखाई देते। और तब इन शरीरों का विवेचन जीव तत्व के भीतर न होकर अजीव तत्व के भीतर किया जाता। किन्तु यथार्थतः जीवगत भावों के निमित्तसे ही ये शरीरगत विशेषताएं उत्पन्न होती हैं, और इसी से जीव तत्त्व में उनका निरूपण किया गया है। अतएव इस व्यवस्था के प्रतिकूल केवल ग्रंथों के उल्लेखों मात्र से वेदवैषम्य की सिद्धि नहीं मानी जा सकती। यदि उन वेदवैषम्यों सम्बन्धी उल्लेखों को प्रधानता से स्वीकार किया जाता है तो या तो उनके साथ उक्त कर्मोदय सम्बन्धी व्यवस्था का मेल बैठाकर बतलाना चाहिये, या इस व्यवस्था को अमान्य ठहराकर नई ही कर्म व्यवस्था बना कर बताना चाहिये। पर यदि ऐसा नहीं किया जा सकता और वर्तमान कर्म सिद्धान्त व्यवस्था ही मान्य है तो उस व्यवस्था के प्रकाश में उन उल्लेखो पर जोर देना निष्फल है।

यही मेरा दृष्टिकोण है जिस पर पंडित जी को ध्यान देने की आवश्यकता है। यदि इसे ध्यान मे रखकर पंडित जी मेरे पूर्व लेख मे उल्लिखित शेष प्रश्नों पर विचार करेंगे तो इस विषय का निर्णयात्मक समाधान उन्हे दृष्टिगोचर होने लगेगा। (जैन संदेश, भाग ८ अंक २५, ता. २३ नवम्बर, १९४४)